भगवानश्री कुन्दकुन्द-कहान जैनशास्त्रमाला, पुष्प—185

ॐ

नमः शुद्धात्मने।

गुरुदेवश्रीके वचनामृत

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनोंमेंसे चुने गये)

प्रकाशक

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,

सोनगढ-364250 (सौराष्ट्र)

देखी मूर्ति सीमन्धरजिननी नेत्र मारां ठरे छे,
ने हैयु आ फरी फरी प्रभु! ध्यान तेनुं धरे छए;
आत्मा मारो प्रभु! तुज कने आववा उल्लसे छे,
आपो एवुं बळ हृदयमां माहरी आश ए छे.

अंकुर एक नथी मोह तणो रह्यो ज्यां,
अज्ञान-अंश वळी भस्मरूपे थयो ज्यां;
आनन्द, ज्ञान, निज वीर्य अनन्त छे ज्यां,
त्यां स्थान मागुं—जिननां चरणांबुजोमां.

भले सो इन्द्रोना तुज चरणमां शिर नमतां,
भले इन्द्राणीना रतनमय स्वस्तिक बनता;
नथी ए ज्ञेयोमां तुज परिणति सन्मुख जरा,
स्वरूपे डूबेला, नमन तुझने, ओ जिनवरा !

सुर-असुर-नरपतिवंद्यने प्रविनष्टघातिकर्मने,
प्रणमन करुं हुं धर्मकर्ता तीर्थ श्री महावीरने.

जिनके ज्ञानसरोवरमें सर्व विश्व मात्र कमल तुल्य

भासित होता है ऐसे भूत, वर्तमान और भावी

जगतशिरोमणि तीर्थंकर भगवन्तोंको

नमस्कार

ॐ

नमः श्री सद्गुरुदेवाय।

प्रकाशकीय निवेदन

'गुरुदेवश्रीके वचनामृत' नामक यह लघु संकलन अध्यात्मयुगस्रष्टा, वीर-कुन्द-अमृतप्रणीत शुद्धात्ममार्गप्रकाशक, स्वानुभूतिविभूषित, परमोपकारी परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामीके श्री समयसार आदि अनेक दिगम्बर जैन शास्त्रों पर दिये गये अध्यात्मरसभरपूर प्रवचनोंमेंसे, पूज्य गुरुदेवश्रीकी पवित्र साधनाभूमि सुवर्णपुरीके मध्य 'पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी स्मारक-योजना' अन्तर्गत नवनिर्मित 'श्री दिगम्बर जैन पंचमेरु-नन्दीश्वर जिनालय गुरुदेवश्री कानजीस्वामी वचनामृत भवन बहिनश्री चम्पाबहिन वचनामृतभवन'—इस त्रिपटी अभिधायुक्त अति भव्य जिनमन्दिरकी दीवारोंके संगेमरमर शिलापटों पर उत्कीर्ण कराने हेतु चुने गये 287 बोलोंका संग्रह है।

भारतवर्षकी धन्य धरा पर विक्रमकी बीसवीं—इक्कीसवीं शताब्दीमें समयसारकी महिमाका जो यह अद्भुत उदय हुआ है वह, वास्तवमें अध्यात्मयुगप्रवर्तक परम कृपालु पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामीका कोई असाधारण परम प्रताप है।

समयसार माने द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्मरहित त्रैकालिक शुद्ध आत्मा। शुद्ध आत्माके स्वरूपका सुन्दर और सचोट प्रतिपादन करनेवाला, श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत परमागम श्री समयसार नामक महान ग्रन्थ वि.सं. 1978में, विधिके किसी धन्य क्षणमें, पूज्य गुरुदेवश्रीके करकमलमें आया। उसे पढ़ते ही उनके हर्षोल्लासका पार नहीं रहा, क्योंकि वे जिस दुःखमुक्तिके यथार्थ मार्गकी खोजमें थे वह उन्हें समयसारमेंसे प्राप्त हो गया। समयसारका गहन अध्ययन करने पर उन्हें अमृतके सरोवर छलकते दिखाई दिये; एकके बाद एक गाथा पढ़ते हुए उन्होंने अंजुलि भर-भरकर यह अमृत पिया। ग्रन्थाधिराज समयसारने पूज्य गुरुदेवश्री पर अपूर्व, अलौकिक, अनुपम उपकार किया और उनके आत्मानन्दका पार नहीं रहा। समयसारके तलस्पर्शी अध्ययनसे उनके अंतर्जीवनमें परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भटकी हुई परिणति निज घरकी ओर चली—परिणतिका प्रवाह सुखसिन्धु ज्ञायकदेवकी ओर मुड़ गया। उनकी ज्ञानकला अपूर्व रीति एवं असाधारणरूपसे खिल उठी।

ग्रन्थाधिराज समयसार जिनके शुद्धात्मसाधनामय जीवनका जनक हुआ और आजीवन साथी रहा। उन परम कृपालु पूज्य गुरुदेवकी पावन परिणतिमें समयसारके गहन अवगाहनसे समुत्पन्न जो स्वानुभूतिजनित अतीन्द्रिय आनन्दका उफान वह, विकल्पकालमें भव्यजन-भाग्ययोगसे शब्ददेह धारण करके प्रवचनरूपसे प्रवाहित होने लगा। गुरुदेवने अपनी साधनाभूत उज्ज्वल ज्ञानधारामेंसे अपनी जीवनकालमें समयसार पर उन्नीस बार शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादनप्रधान, अनेकान्तसंगत तथा निश्चय-व्यवहारके सुमेलयुक्त अध्यात्मरसझरते अनुपम प्रवचन दिये। तदुपरांत प्रवचनसार, पंचास्तिकायसंग्रह, नियमसार आदि कुन्दकुन्दभारती पर तथा अन्य दिगम्बर जैन आचार्योंके परमात्मप्रकाश, पुरुषार्थसिद्धियुपाय, स्वामितकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि अनेक ग्रन्थों पर भी अनेकबार मर्मस्पर्शी व्याख्यान दिये। इसप्रकारह व्याख्यानों द्वारा वीतरागसर्वज्ञप्रणीत शुद्धात्मानुभूतिरूप सच्चा मोक्षमार्ग मुमुक्षुजगतको बतलाकर कृपालु कहानगुरुदेवने वास्तवमें वचनातीत असाधारण महान—महान उपकार किया है। इस शताब्दीमें स्वानुभूतिप्रधान मोक्षमार्गकी जो महिमा प्रवर्तमान है उसका सारा श्रेय पूज्य गुरुदेवश्रीको है।

पूज्य गुरुदेवश्री अध्यात्मरसझरती, स्वानुभवमार्गप्रकाशिनी यह कल्याणी प्रवचनगंगा जगतके जीवोंको पावन करती हुई जो वही जा रही है उसे यदि लेखनबद्ध करके स्थायी किया जाये तो मुमुक्षुजगतको महान लाभका कारण हो—इस पुनीत भावनाके बलसे श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट (सोनगढ़) द्वारा, समयसार आदि अनेक शास्त्रों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा दिये गये प्रवचनोंकी लिपिबद्ध कराके, वह मिथ्यात्वतमोभेदिनी समन्तभद्रा अनुपम वाणी 'आत्मधर्म' मासिक पत्र तथा अनेक प्रवचनग्रन्थोंमें प्रकाशित की गई। इस प्रकार पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचनसाहित्य द्वारा निजहितार्थी मुमुक्षुजगत पर महान उपकार हुआ है।

अहो ! ऐसे असाधारण परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्रीकी तथा उनकी लोकोत्तर अनुभववाणीकी क्या महिमा की जाए ! उस सम्बन्धमें अपनी गुरुभक्तिभीनी हृदयोर्मियाँ व्यक्त करते हुए प्रशममूर्ति भगवती पूज्य बहिनश्री चम्पाबहिन कहती हैं कि—

''गुरुदेवका द्रव्य ही अलौकिक था, उनकी वाणी भी ऐसी अलौकिक थी कि भीतर आत्माकी रुचि जागृत करे। उनकी वाणीकी गम्भीरता एवं झंकार कुछ और ही थे। सुनते हुए अपूर्वता लगे और 'जड़-चैतन्य भिन्न हैं' ऐसा भास हो जाये—ऐसी वाणी थी। 'अरे जीवों ! तुम देहमें विराजमान भगवान आत्मा हो कि जो अनन्त गुणोंका महासागर है। उस प्रत्यक्ष अनुभवगोचर भगवानका तुम अनुभव करो; तुम्हें परमानन्द होगा।'—ऐसी गुरुदेवकी अनुभवयुक्त बलवती वाणी श्रोताओंको आश्चर्यचकित करती थी। बड़ी प्रबल वाणी ! शुद्ध परिणतिकी तथा शुद्ध ज्ञायक आत्माकी लगन लगाये—ऐसी मंगलमय वाणी गुरुदेवकी थी।

अहो ! देव-शास्त्र-गुरु मंगल हैं, उपकारी हैं। हमें तो देव-शास्त्र-गुरुका दासत्व चाहिए।

पूज्य कहानगुरुदेवसे तो मुक्तिका मार्ग मिला है। उन्होंने चारों ओरसे मुक्तिका मार्ग प्रकाशित किया है। गुरुदेवका अपार उपकार है। वह उपकार कैसे भूला जाए ? पूज्य गुरुदेवश्रीके चरणकमलकी भक्ति और उनका दासत्व निरन्तर हो !''

पूज्य गुरुदेवश्रीके उस विशाल प्रवचनसाहित्यमेंसे चुनकर इस पुस्तक 'गुरुदेवश्रीके वचनामृत'का उद्भव किस प्रकार हुआ वह हम देखें :—

पूज्य गुरुदेवश्रीकी साधनाभूमिमें—सुवर्णपुरीके—प्रशममूर्ति धन्यावतार पूज्य बहिनश्री चम्पाबेनकी—रात्रिकालीन महिलाशास्त्रसभामें उच्चरित—स्वानुभवरस-झरती तथा देव-गुरु-भक्तिभीनी अध्यात्मवाणी पूज्य गुरुदेवश्रीकी मंगल उपस्थितिमें 'बहिनश्रीके वचनामृत'रूपमें वि.सं. 2033में प्रकाशित हुई थी। उसमें समाविष्ट अध्यात्मके तलस्पर्शी गहरे रहस्योंसे पूज्य गुरुदेव बहुत ही प्रसन्न एवं प्रभावित हुए। उन्होंने अपनी प्रसन्न भावना व्यक्त करते हुए ट्रस्टके अध्यक्ष श्री रामजीभाई दोशीसे कहा : ''भाई ! यह 'वचनामृत' पुस्तक इतनी सरस है कि इसीक एक लाख प्रतियाँ छपाना चाहिए।'' 'बहिनश्रीके वचनामृत' पुस्तक सम्बन्धकी पूज्य गुरुदेवश्रीकी एसी असाधारण प्रसन्नता एवं अहोभाव देखकर—सुनकर कुछ-एक मुमुक्षुओंको उसे संगेमरमरके शिलापटों पर उत्कीर्ण करानेकी भावना जागृत हुई। यह बात प्रस्तुत होनेपर पूज्य गुरुदेवश्रीने ऐसी भावना व्यक्त की कि—'वचनामृत खुदवाकर बहिनके (पूज्य बहिनश्री चम्पाबेनके) नामका एक नया स्वतन्त्र मकान बनाना चाहिए।' माननीय श्री रामजीभाईने पूज्य गुरुदेवश्रीकी भावना शिरोधार्य करके, निर्णय किया कि—'बहिनश्री चम्पाबबेन वचनामृतभवन'का निर्माण करवाया जाये; जिसकी शिलान्यासविधि वि.सं. 2037, कार्तिक शुक्ला पंचमीके शुभ दिन पूज्य गुरुदेवश्रीकी मंगल उपस्थितिमें हुई थी।

शिलान्यासविधि सम्पन्न होनेके पश्चात् कुछ दिनोंमें (पूज्य गुरुदेवश्रीकी अनुपस्थितिमें) ट्रस्टीओंने तथा मुख्य कार्यकर्ताओंने 'वचनामृतभवन'का विस्तृतीकरण करके उसमें पंचमेरु-नन्दीश्वरकी प्रतिष्ठित रचना की जाए और 'गुरुदेवश्रीके वचनामृत' भी उत्कीर्ण कराए जाएँ,—ऐसा निर्णय किया। तदनुसार पूज्य गुरुदेवश्रीके साहित्य-समुद्रमेंसे वीतराग मार्गको स्पष्ट करनेवाले कुछ-एक बोल चुनकर 'गुरुदेवश्रीके वचनामृत'का यह संकलन श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्टने तैयार करवाया और उसका संगमरमरके शिलापटों पर खुदाई काम भी हुआ; तथा पूज्य बहिश्रीकी मंगल उपस्थितिमें वि.सं. 2041, फाल्गुन शुक्ला सप्तमीके शुभ दिन पंचमेरु-नन्दीश्वर जिनालयकी पंचकल्याणकविधि सहित भव्य प्रतिष्ठा हुई।

श्री पंचमेरु-नन्दीश्वर जिनालयमें उत्कीर्ण 'गुरुदेवश्रीके वचनामृत' पुस्तकाकार (गुजराती) प्रकाशित हो तो हर एकको उसके अध्ययनका लाभ प्राप्त हो—इस हेतु इसे छपाना 'ट्रस्ट'की योजना अन्तर्गत था, और पूज्य बहिनश्री भी, यह पुस्तक शीघ्र प्रकाशित हो तो अच्छा—ऐसी अंतरमें गुरुवाणीके प्रति उन्हें भक्तिभीनी तीव्र भावना होनेसे, कई बार पूछती थीं कि—''गुरुदेवश्रीके वचनामृत' पुस्तक कब प्रकाशित होगी?'' परन्तु इस कार्यमें अकारण ही विलम्ब हो रहा था। इतनेमें, जिन्होंने अपनी देव-गुरुके प्रति अपार भक्ति द्वारा पंचमेरु-नन्दीश्वर जिनालय आदि सुवर्णपुरी-तीर्थधामके सर्व जिनायतनोंके तथा अन्य अन्य नगरोंके अनेक जिनायतनोंके निर्माणकार्यमें एवं संस्थआकी गतिविधिमें विविध प्रकारसे अनुपम सेवा दी है उन (पूज्य बहिनश्री और पं. श्री हिम्मतलालभाईके ज्येष्ठ भ्राता) आत्मारार्थी मुमुक्षु भाईश्री व्रजलालबाई जेठालाल शाह (इन्जीनियर)का स्वर्गवास हो जानेसे आदरणीय पण्डितजी श्री हिंमतभाई तथा माननीय श्री व्रजलालभाईके परिवारने, यदि ट्रस्ट 'गुरुदेवश्रीके वचनामृत' पुस्तक प्रकाशित करनेकी योजना शीघ्र कार्यान्वित करे तो, अपने पूज्य अग्रज श्री व्रजलालभाई द्वारा स्वयं दर्शायी गई भावनानुसार धर्मार्थ घोषित एक लाख रूपयेकी रकममेंसे दस हजार रूपये उसके प्रकाशन हेतु देनेकी अपनी भावना व्यक्त की। ट्रस्टने उनकी भावनाको सम्मति दी। इस प्रकार ट्रस्टके विलम्बमें पड़े हुए इस (गुजराती)के प्रकाशन कार्यको गति मिली और इन 'गुरुदेवश्रीके वचनामृत'ने पुस्तकाकार धारण किया, जिसका हिन्दी भाषान्तर कराकर इस बहुमूल्य गुरुवाणीको वि.सं. 2049में हिन्दीभाषी मुमुक्षुजगतके हाथमें पहुचाया गया। अब इसकी तीसरी आवृत्ति प्रकाशित करते हुए हम अति हर्षानन्दका अनुभव करते हैं।

अन्तमें हमें आशा है कि तत्त्वरसिक जिज्ञासु जीव गुरुदेवश्रीकी स्वानुभवरसपूरित ज्ञानधारामेंसे प्रवाहित इस शुद्धात्मतत्त्वस्पर्शी 'वचनामृत' द्वारा आत्मार्थको पुष्ट करके, साधनाकी सच्ची दिशा प्राप्त करके, अपने साधनामार्गको उज्ज्वल एवं सुधास्यन्दी बनाऐंगे।

चैत्र कृष्णा 10,
वि.सं. 2051
(बहिनश्री चम्पाबेनकी 63वीँ सम्यक्त्वजयन्ती)

साहित्यप्रकाशनसमिति
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

ॐ

अध्यात्मयुगस्रष्टा पूज्य गुरुदेव

श्री कानजीस्वामीकी प्रशस्ति

(विक्रम संवत 1946—2037)

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः।।

इस भारतवर्षकी पुण्यभूमिमें अवतार लेकर जिस महापुरुषने प्रवर्तमान चौबीसीके चरम तीर्थंकर देवाधिदेव परमपूज्य 1008 श्री महावीरस्वामी द्वारा प्ररूपित तथा तदाम्नायानुवर्ती आचार्यशिरोमणि श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा समयसार आदि परमागमोंमें सुसंचित शुद्धात्मद्रव्यप्रधान अध्यात्मतत्त्वामृतका स्वयं पान करके विक्रमकी इस वीस—इक्कीसवीं शताब्दीमें आत्मसाधनाके पावन पंथका पुनः समुद्योत किया है, रूढिग्रस्त साम्प्रदायिकतामें फँसे हुए जैनजगत पर जिन्होंने जिनागम, सम्यक् प्रबल युक्ति और स्वानुभवसे द्रव्यदृष्टिप्रधान स्वात्मामुभूतिमुलक वीतराग जैनधर्मको प्रकाशणें लाकर अनुपम, अद्भुत और अनन्त उपकार किये हैं, पैतालीस वर्षके सुदीर्घ काल तक जिनके निवास, दिव्य देशना तथा पुनीत प्रभावनायोगने सोनगढ़(सौराष्ट्र)को एक अनुपम 'अध्यात्मतीर्थ' बना दिया है और जिनकी अनेकान्तमुद्रित निश्चय-व्यवहार-सुमेलसम्बन्धित शुद्धात्मतत्त्वप्रधान अध्यात्मरसनिर्भर चमत्कारी वाणीमेंसे 'गुरुदेवश्रीके वचनामृत' संकलित किए गए हैं—ऐसे सौराष्ट्रके आध्यात्मिक युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीका पवित्र जन्म सौराष्ट्रके (भावनगर जिलेके) उमराला ग्राममें वि.सं. 1946, वैशाख शुक्ला दूज, रविवारके शुभ दिन हुआ था। पिता श्री मोतीचन्दभाई और माता उजमबा जातिसे दशा-श्रीमाली वणिक तथा धर्मसे स्थानकवासी जैन थे।

शैशवसे ही बालक 'कानजी'के मुख पर वैराग्यकी सौम्यता और नेत्रोंमें बुद्धि तथा वीर्यकी असाधारण प्रतिभा झलकती थी। वे स्कूलमें तथा जैन पाठशालामें प्रायः प्रथम श्रेणीमें आते थे। स्कूलके लौकिक ज्ञानसे उनके चित्तको संतोष नहीं होता था; उन्हें अपने भीतर ऐसा लगता रहता था कि 'जिस खोजमें मैं हूँ वह यह नहीं है'। कभी-कभी यह दुःख तीव्रता धारण करता और एक बार तो, मातासे बिछुडे हुए बालककी भाँति वे बालमहात्मा सत्के वियोगमें खूब रोये थे।

युवावस्थामें दूकान पर भी वै वैराग्यप्रेरक और तत्त्वबोधक धार्मिक पुस्तकें पढते थे। उनका मन व्यापारमय या संसारमय नहीं हुआ था। उनके अन्तरका झुकाव सदा धर्म और सत्यकी खोजके प्रति ही रहता था। उनका धार्मिक अध्ययन, उदासीन जीवन तथा सरल अन्तःकरण देखकर सगे-सम्बन्धी उन्हें 'भगत' कहते थे। उन्होंने बाईस वर्षकी कुमारावस्थामें आजीवन ब्रह्मचर्यपालनकी प्रतिज्ञा ले ली थी। वि.सं. 1970में मंगसिर शुक्ला 9, रविवारके दिन उमरालामें गृहस्थजीवनका त्याग करके विशाल उत्सवपूर्वक स्थानकवासी जैन संप्रदायका दीक्षाजीवन अंगीकार किया था।

दीक्षा लेकर तुरन्त ही गुरुदेवश्रीने श्वेताम्बर आगमोंका तीव्र अध्ययन प्रारंभ कर दिया। वे सम्प्रदायकी शैलीका चरित्र भी बडी सख्तीसे पालते थे। कुछ ही समयमें उनकी आत्मार्थिताकी, ज्ञानपिपासाकी तथा उग्र चारित्रकी सुवास स्थानकवासी संप्रदायमें इतनी अधिक फैल गई कि समाज उन्हें 'काठियावाड़के कोहिनूर'—इस नामसे सम्मानित करता था।

गुरुदेवश्री पहेलसे ही तीव्र पुरुषार्थी थे। 'चाहे जैसे कठोर चारित्रका पालन किया जाए तथापि केवली भगवानने यदि अनन्त भव देखे होंगे उनमेंसे एक भी भव कम नहीं होगा '—ऐसी काललब्धि एवं भवितव्यताकी पुरुषार्थहीनताभरी बातें कोई करे तो वे सहन नहीं कर सकते थे और दृढतासे कहते कि 'जो पुरुषार्थी है उसे अनन्त भव होते ही नहीं, केवली भगवानने भी उसके अनन्त भव देखे ही नहीं, पुरुषार्थीको भवस्थिति आदि कुछ भी बाधक नहीं होता'। 'पुरुषार्थ, पुरुषार्थ और पुरुषार्थ' वह गुरुदेवश्रीका जीवनमंत्र था।

दीक्षापर्यायके अरसेमें उन्होंने श्वेताम्बर शास्त्रोंका गहन चिंतन-मननपूर्वक खूब अध्ययन किया। तथापि वे जिसकी खोजमें थे वह उन्हें मिल गया। गुरुदेवश्रीके अन्तर्नेत्रोंने समयसारमें अमृतके सरोवर छलकेत देखे; एकके बाद एक गाथा पढते हुए उन्होंने घूँट भर-भरकर वह अमृत पिया। गुरुदेवश्रीने ग्रन्थाधिराज समयसारमें कहे हुए भावोंका गम्भीर मंथन किया और क्रमशः समयसार द्वारा गुरुदेवश्री पर

अपूर्व, अलौकिक, अनुपम उपकार हुआ। गुरुदेवश्रीके आत्मानंदका पार नहीं रहा। उनके अन्तर्जीवनमें परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली हुई परिणतिने निजघर देखा। उपयोगका प्रवाह सुधासिन्धु ज्ञायकदेवकी ओर मुड़ा। उनकी ज्ञानकला अपूर्व रीतिसे विकसित होने लगी।

वि.सं. 1991 तक स्थानकवासी सम्प्रदायमें रहकर पूज्य गुरुदेवश्रीने सौराष्ट्रके अनेक मुख्य शहरोंमें चातुर्मास तथा शेष कालमें सैकडों छोटे-बड़े ग्रामोमें विहार करके लुप्तप्राय अध्यात्मधर्मका खूब उद्योत किया। उनके प्रवचनोंमें ऐसे अलौकिक आध्यात्मिक न्याय आते कि दो अन्यत्र कही सुननेको नहीं मिले हों। प्रत्येक प्रवचनमें वे भवान्तकारी कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन पर अत्यन्त अत्यन्त भार देते थे। वे कहते थे। ''शरीरकी खाल उतारकर नमक छिडकनेवाले पर भी क्रोध नहीं किया—ऐसे व्यवहारचारित्र इस जीवने अनन्तबार पाले हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन एक बार भी प्राप्त नहीं किया।....लाखों जीवोंकी हिंसाके पापकी अपेक्षा मिथ्यादर्शनका पाप अनन्तगुना है।....सम्यक्त्व आसान नहीं है, लाखों—करोड़ोंमें किसी विरले जीवको ही वह होता है। सम्यक्त्वी जीव अपने सम्यक्त्वका निर्णय स्वयं ही कर सकता है। सम्यक्त्वी समस्त ब्रह्मांडके भावोंको पी गया होता है। सम्यक्त्व वह कोई अलग ही वस्तु है। सम्यक्त्व रहित क्रियाएँ एक रहित शून्योंके समान हैं।.....जानपना वह ज्ञान नहीं है; सम्यक्त्व सहित जानपना ही ज्ञान है। ग्यारह अंग कण्ठाग्र हों परन्तु सम्यक्त्व न हो तो अज्ञान है।.....सम्यक्त्वीको तो मोक्षके अनन्त अतीन्द्रिय सुखका अंश प्राप्त हुआ होता है। वह अंश मोक्षसुखके अनन्तवें भाग होने पर भी अनन्त है।'' इस प्रकार सम्यग्दर्शनका अद्भुत माहात्म्य अनेक सम्यक् युक्तियोंसे, अनेक प्रमाणोंसे और अनेक सचोट दृष्टांतों द्वारा वे लोगोंके गले उतारते थे। उनका प्रिय एवं मुख्य विषय सम्यग्दर्शन था।

गुरुदेवश्रीको समयसारप्ररूपित यथार्थ वस्तुस्वभाव और स्वानुभूतिप्रधान सच्चा दिगम्बर निर्ग्रंथमार्ग दीर्घ कालसे अन्तरमें सत्य लगता था और बाह्यमें वेश तथा आचार भिन्न थे,—यह विषम स्थिति उन्हें खटकती थी; इसलिए उन्होंने सोनगढ़में योग्य समय पर—वि.सं. 1991के चैत्र शुक्ला 13 (महावीरजयन्ती)के दिन—'परिवर्तन' किया, स्थानकवासी सम्प्रदायका त्याग किया, 'अबसे मैं आत्मसाधक दिगम्बर जैनमार्गानुयायी ब्रह्मचारी हूँ' ऐसा घोषित किया। 'परिवर्तन'के कारण प्रचण्ड विरोध हुआ, तथापि उन निडर और निस्पृह महात्माने उसकी कोई परवाह नहीं की। हजारोंकी मानवमेदनीमें गर्जता वह अध्यात्मकेसरी सत्के लिए जगतसे नितान्त निरपेक्ष होकर सोनगढ़के एकान्त स्थानमें जा बैठा। प्रारम्भमें तो खलबली मची; परन्तु गुरुदेवश्री काठियावाड़के स्थानकवासी जैनोंके हृदयमें बस गये थे,

गुरुदेवश्रीके प्रति वे सब मुग्ध हो गये थे, इसलिए 'गुरुदेवने जो किया होगा वह समझकर ही किया होगा' ऐसा विचारकर धीरे-धीरे लोगोंका प्रवाह सोनगढ़की ओर बहने लगा। सोनगढ़की ओर बहता हुआ सत्संगार्थीजनोंका प्रवाह दिन-प्रतिदिन वेगपूर्वक बढ़ता ही गया।

समयसार, प्रवचनसार, नियमसारादि शास्त्रों पर प्रवचन देते हुए गुरुदेवश्रीने प्रत्येक शब्दमें बड़ी गहनता, सूक्ष्मता और नवीनता निकलती थी। जो अनन्त ज्ञान एवं आनन्दमय पूर्ण दशा प्राप्त करके तीर्थंकरदेवने दिव्यध्वनि द्वारा वस्तुस्वरूपका निरूपण किया, उस परम पवित्रदशाका सुधास्यन्दी स्वानुभूतिस्वरूप पवित्र अंश अपने आत्मामें प्रगट करके सद्गुरुदेवने अपनी विकसित ज्ञानपर्याय द्वारा शास्त्रोंमें विद्यमान गूढ़ रहस्य समझाकर मुमुक्षुओं पर महान-महान उपकार किया।

गुरुदेवश्रीकी वाणी सुनकर सैकड़ों शास्त्रोंके अभ्यासी विद्वान भी आश्चर्यचकित हो जाते थे और उल्लसित होकर कहते थे : 'गुरुदेव ! आपके प्रवचन अपूर्व हैं; उनका श्रवण करते हुए हमें तृप्ति नहीं होती। आप कोई भी बात समझाओ उसमेंसे हमें नया नया ही जाननेको मिलता है। नव तत्वका स्वरूप या सम्यक्त्वका स्वरूप, निश्चय-व्यवहारका स्वरूप या व्रत-तप-नियमका स्वरूप, उपादान-निमित्तका स्वरूप या साध्य-साधनका स्वरूप, द्रव्यानुयोगका स्वरूप या चरणानुयोगका स्वरूप, मुनिदशाका स्वरूप या केवलज्ञानका स्वरूप—जिस जिस विषयका स्पष्टीकरण आपके श्रीमुखसे हम सुनते हैं उसमें हमें अपूर्व भाव दृष्टिगोचर होते हैं। आपके प्रत्येक शब्दमें वीतरागदेवका हृदय प्रगट होता है।'

गुरुदेव बारम्बार कहते थे : 'समयसार सर्वोत्तम शास्त्र है।' समयसारकी बात करते हुए उन्हें अति उल्लास आ जाता था। समयसारकी प्रत्येक गाथा मोक्ष देनेवाली है ऐसा वे कहते थे। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवके सर्व शास्त्रों पर उन्हें अपार प्रेम था। 'भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवका हम पर महान उपकार है, हम उनके दासानुदास हैं'—ऐसा वे अनेकों बार भक्तिभीने अन्तरसे कहते थे। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेहक्षेत्रमें सर्वज्ञवीतराग श्री सीमन्धरभगवानके समवसरणमें गये थे और वहाँ आठ दिन रहे थे, उस विषयमें गुरुदेवको रंचमात्र भी शंका नहीं थी। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवके विदेहगमनके सम्बन्धमें वे अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कई बार भक्तिभीने हृदयसे पुकारकर कहते थे कि—'कल्पना मत करना, इन्कार मत करना, यह बात ऐसी ही है; मानो तब भी ऐसी है, नहीं मानों तब भी ऐसी ही है; यथातथ्य है, अक्षरशः सत्य है, प्रमाणसिद्ध है'। श्री सीमन्धरप्रभुके प्रति गुरुदेवको अतिशय भक्तिभाव था। कभी-कभी तो सीमन्धरनाथके विरहमें परम भक्तिवंत गुरुदेवके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह जाती थी।

पूज्य गुरुदेव द्वारा अन्तरसे खोजा हुआ स्वानुभवप्रधान अध्यात्ममार्ग—दिगम्बर जैनधर्म ज्यों-ज्यों प्रसिद्ध होता गया त्यों-त्यों अधिकाधिक जिज्ञासु आकर्षित हुए। गाँव-गाँवमें 'दिगम्बर जैन मुमुक्षुमंडल' स्थापित हुए। सम्प्रदायत्यागसे उठा विरोध-झंझावात शान्त हो गया। हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन तथा सैकड़ों अजैन भी स्वानुभूतिप्रधान वीतराग दिगम्बर जैनधर्मके श्रद्धालु हो गये। हजारों दिगम्बर जैन रूढ़िगत बहिर्लक्षी प्रथा छोड़कर पूज्य गुरुदेव द्वारा प्रवाहित शुद्धात्मतत्त्वप्रधान अनेकान्त-सुसंगत अध्यात्म-प्रवाहमें श्रद्धा-भक्ति सहित सम्मिलित हो गये। पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रभावना उदय दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक वृद्धिगत होता गया।

गुरुदेवके मंगल प्रतापसे सोनगढ़ धीरे-धीरे अध्यात्मविद्याका एक अनुपम केन्द्र—तीर्थधाम बन गया। बाहरसे हजारों मुमुक्षु तथा अनेक दिगम्बर जैन, पण्डित, त्यागी, ब्रह्मचारी पूज्य गुरुदेवश्रीका उपदेश लाभ लेने हेतु आने लगे। तदुपरांत, सोनगढ़में बहुमुखी धर्मप्रभावनाके विविध साधन यथावसर अस्तित्वमें आते गये :—वि.सं. 1994में श्री जैन स्वाध्यायमंदिर, 1997में श्री सीमन्धरस्वामीका दिगम्बर जिनमन्दिर, 1998में श्री समवसरणमन्दिर, 2003में श्री कुन्दकुन्दप्रवचनमंडप, 2009में श्री महावीर-कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन परमागममन्दिर आदि भव्य धर्मायतन निर्मित हुए। देश-विदेशमें निवास करनेवाले जिज्ञासु पूज्य गुरुदेवश्रीके अध्यात्मतत्त्वोपदेशसे लाभान्वित हो सकें इस हेतु गुजराती तथा हिन्दी 'आत्मधर्म' मासिक पत्रका प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसी बीच कुछ वर्षों तक 'सद्गुरुप्रवचनप्रसाद' नामक दैनिक प्रवचन-पत्र भी प्रकाशित होता था। तदुपरांत समयसार, प्रवचनसार आदि अनेक मूल शास्त्र तथा विविध प्रवचनग्रन्थ इत्यादि अध्यात्मसाहित्यका विपुलमात्रामें—लाखोंकी संख्यामें—प्रकाशन हुआ। हजारों प्रवचन टेपरिकार्ड किये गये। इसप्रकार पूज्य गुरुदेवश्रीका अध्यात्म-उपदेश मुमुक्षुओंके घर-घरमें गूँजने लगा। प्रति वर्ष ग्रीष्मावकाशमें विद्यार्थीयोंके लिए और श्रावणमासमें प्रौढ़ गृहस्थोंके लिये धार्मिक शिक्षणवर्ग चलाये जाते थे और आज भी चलाये जाते हैं इसप्रकार सोनगढ़ पूज्य गुरुदेवश्रीके परम प्रतापसे बहुमुखी धर्मप्रभावनाका पवित्र केन्द्र बन गया।

पूज्य गुरुदेवश्रीके पुनित प्रभावसे सौराष्ट्र-गुजरात तथा भारतवर्षके अन्य प्रान्तोंमें स्वानुभूतिप्रधान वीतराग दिगम्बर जैनधर्मके प्रचारका एक अद्भुत अमिट आन्दोलन फैल गया। जो मंगलकार्य भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवने गिरनार पर वाद प्रसंग पर किया था उसी प्रकारका, स्वानुभवप्रधान दिगम्बर जैनधर्मकी सनातन सत्यताकी प्रसिद्धिका गौरवपूर्ण महान कार्य अहा ! पूज्य

गुरुदेवश्रीने श्वेताम्बरबहुल प्रदेशमें रहकर, अपने स्वानुभवमुद्रित सम्यक्त्वप्रधान सदुपदेश द्वारा हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बरोंमें श्रद्धाका परिवर्तन लाकर, सहजतासे तथापि चमत्कारिक प्रकारसे किया। सौराष्ट्रमें नामशेष हो गये आत्मानुभूतिमूलक दिगम्बर जैनधर्मके—पूज्य गुरुदेवके प्रभावनायोगसे जगह-जगह हुए दिगम्बर जैन मन्दिर, उनकी मंगल प्रतिष्ठाएँ तथा आध्यात्मिक प्रवचनों द्वारा हुए—पुनरुद्धारका युग आचार्यवर श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके मन्दिरनिर्माण-युगकी याद दिलाता है। अहा ! कैसा अद्भुत आचार्यतुल्य उत्तम प्रभावनायोग ! सचमुच पूज्य गुरुदेव द्वारा इस युगमें एक समर्थ प्रभावक आचार्य समान जिनशासनोन्नतिकर अद्भुत अनुपम कार्य हुए हैं।

पूज्य गुरुदेवश्रीने दो—दो बार सहस्राधिक विशाल मुमुक्षु संघ सहित पूर्व, उत्तर, मध्य और दक्षिण भारतके जैन तीर्थोंकी पावन यात्रा करके, भारतके अनेक छोटे-बड़े नगरोंमें प्रवचन दिये और नाइरोबी (अफ्रिका)का, नवनिर्मित दिगम्बर जिनमंदिरकी प्रतिष्ठाके निमित्त प्रवास किया—जिसके द्वारा समग्र भारतमें तथा विदेशोंमें शुद्धात्मदृष्टिप्रधान अध्यात्मविद्याका खूब प्रचार हुआ।

यह असाधारण धर्मोद्योत स्वयमेव बिना—प्रयत्नके साहजिक रीतिसे हुआ। गुरुदेवश्रीने धर्मप्रभावनाके लिए कभी किसी योजनाका विचार नहीं किया था। वह उनकी प्रकृतिमें नहीं था। उनका समग्र जीवन निजकल्याणसाधनाको समर्पित था। उन्होंने जो सुधाझरती आत्मानुभूति प्राप्त की थी, जिन कल्याणकारी तथ्योंको आत्मसात् किया था, उनकी अभिव्यक्ति उनसे 'वाह ! ऐसी वस्तुस्थिति !' ऐसे विविध प्रकारसे सहजभावसे उल्लासपूर्वक हो जाती थी, जिसका गहरा आत्मार्थप्रेरक प्रभाव श्रोताओंके हृदय पर पड़ता था। मुख्यतः इस प्रकार उनके द्वारा सहजरूपसे धर्मोद्योत हो गया था। ऐसी प्रबल बाह्य प्रभावना होने पर भी पूज्य गुरुदेवश्रीको बाहरकी किंचित्मात्र रुचि नहीं थी; उनका जीवन तो आत्माभिमुख था।

पूज्य गुरुदेवश्रीका अन्तर सदा 'ज्ञायक....ज्ञायक....ज्ञायक, भगवान आत्मा, ध्रुव....ध्रुव...ध्रुव, शुद्ध...शुद्ध...शुद्ध, परम पारिणामिकभाव' इस प्रकार त्रैकालिक ज्ञायकके आलम्बनभावसे निरन्तर—जागृतिमें या निद्रामें—परिणमित हो रहा था। प्रवचनोंमें और तत्त्वचर्चामें वे ज्ञायकके स्वरूपका तथा उसकी अनुपम महिमाका मधुर संगीत गाते ही रहते थे। अहो ! वे स्वतन्त्रताके और ज्ञायकके उपासक गुरुदेव ! उन्होंने मोक्षार्थियोंको मुक्तिका सच्चा मार्ग बतलाया !

अहा ! गुरुदेवश्रीकी महिमाका वर्णन कहाँ तक करें ! उनका तो द्रव्य ही कोई अलौकिक था। इस पंचमकालमें उस महापुरुषका—आश्चर्यकारी अद्भुत आत्माका—यहाँ अवतार हुआ वह कोई महाभाग्यकी बात है। उन्होंने स्वानुभूतिकी अपूर्व बात प्रगट करके सारे भारतके जीवोंको जगाया है। गुरुदेवश्रीका द्रव्य 'तीर्थंकरका द्रव्य' था। इस भरतक्षेत्रमें पधारकर उन्होंने महान महान उपकार किया है।

आज भी पूज्य गुरुदेवश्रीके सातिशय प्रतापसे सोनगढ़का सौम्य शीतल वातावरण आत्मार्थियोंकी आत्मसाधनालक्षी आध्यात्मिक प्रवृत्तिओंके मधुर सौरभसे महक रहा है। पूज्य गुरुदेवश्रीके चरणकमलके स्पर्शसे अनेक वर्षों तक पावन हुआ ऐसा यह अध्यात्मतीर्थधाम सोनगढ़—आत्मसाधना एवं बहुमुखी धर्मप्रभावनाका निकेतन—सदैव आत्मार्थियोंके जीवन-पथको आलोकित करता रहेगा।

हे परमपूज्य परमोपकारी कहानगुरुदेव ! आपके पुनीत चरणोंमें—आपकी मंगलकारी पवित्रताको, पुरुषार्थप्रेरक ध्येयनिष्ठ जीवनको, स्वानुभूतिमूलक सन्मार्गदर्शक उपदेशोंको और तथाविध अनेकानेक उपकारोंको हृदयमें रखकर—अत्यन्त भक्तिपूर्वक हमारी भावभीनी वंदना हो ! आपके द्वारा प्रकाशित वीर-कुन्दप्ररूपित स्वानुभूतिका पावन पथ जगतमें सदा जयवन्त वर्तो ! जयवन्त वर्तो !

अहो ! उपकार जिनवरका, कुन्दका, ध्वनि दिव्यका;
जिनकेस कुन्दके ध्वनिके दाता श्री कहानगुरुदेवका।

फाल्गुन शुक्ला 7, **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,**

वि.सं. 2041 सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

दि. 27-2-1985

जब तक सामान्य तत्त्व—ध्रुव तत्त्व—ख्यालमें न आये, तब तक अन्तरमें मार्ग कहाँसे सूझे और कहाँसे प्रकट हो ? इसलिए सामान्य तत्त्वको ख्यालमें लेकर उसका आश्रय करना चाहिए। साधकको आश्रय तो प्रारम्भसे पूर्णता तक एक ज्ञायकका ही—द्रव्य-सामान्यका ही—ध्रुव तत्त्वका ही होता है। ज्ञायकका—'ध्रुव'का जोर एक क्षण भी नहीं हटता। दृष्टि ज्ञायकके सिवा किसीको स्वीकार नहीं करता—ध्रुवके सिवा किसी पर ध्यान नहीं देती; अशुद्ध पर्याय पर नहीं, शुद्ध पर्याय पर नहीं, गुणभेद पर नहीं। यद्यपि साथ वर्तता हुआ ज्ञान सबका विवेक करता है, तथापि दृष्टिका विषय तो सदा एक ध्रुव ज्ञायक ही है, वह कभी छूटता नहीं है।

पूज्य गुरदेवश्रीका ऐसा ही उपदेश है, शास्त्र, भी ऐसा ही कहते हैं, वस्तुस्थिति भी ऐसी ही है।

—बहिनश्री चम्पाबहिन

कहानगुरु-महिमा

द्रव्य सकळनी स्वतंत्रता जगमांही गजावनहारा,
वीरकथित स्वात्मानुभूतिनो पंथ प्रकाशनहारा;

—गुरुजी जन्म तमारो रे,
जगतने आनंद करनारो.

पावन-मधुर-अद्भुत अहो ! गुरुवदनथी अमृत झर्या,
श्रवणो मळ्यां सद्भाग्यथी नित्ये अहो ! चिद्रसभर्या;
गुरुदेव तारणहारथी आत्मार्थी भवसागर तर्या,
गुणमूर्तिना गुणगण तणां स्मरणो हृदयमां रमी रह्यां.

स्वर्णपुरे धर्मायतनो सौ गुरुगुणकीर्तन गातां,
स्खळ-स्थळमां 'भगवान आत्म'ना भणकारा संभळाता;

–कण कण पुरुषारथ प्रेरे,
गुरुजी आतम अजवाळे.

—बहिनश्री चम्पाबेन

नमः श्री सद्गुरवे।

अहो ! देव-शास्त्र-गुरु मंगल हैं, उपकारी हैं। हमें तो देव-शास्त्र-गुरुका दासत्व चाहिए।

पूज्य कहानगुरुदेवसे तो मुक्तिका मार्ग मिला है। उन्होंने चारों ओरसे मुक्तिका मार्ग प्रकाशित किया है। गुरुदेवका अपार उपकार है। वह उपकार कैसे भूला जाय ?

गुरुदेवका द्रव्य तो अलौकिक है। उनका श्रुतज्ञान और वाणी आश्चर्यकारी है।

परम-उपकारी गुरुदेवका द्रव्य मंगल है, उनकी अमृतमयी वाणी मंगल है। वे मंगलमूर्ति हैं, भवोदधितारणहार हैं, महिमावन्त गुणोंसे भरपूर हैं।

पूज्य गुरुदेवके चरणकमलकी भक्ति और उनका दासत्व निरन्तर हो।

—बहिनश्री चम्पाबबहिन

ॐ

नमः परमात्मने

गुरुदेवश्रीके वचनामृत

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनोंमेंसे चुने गये)

नंदीश्वर जिनालयमें उत्कीर्ण

ॐ सहज चिदानंद।1।

निश्चयदृष्टिसे प्रत्येक जीव परमात्मस्वरूप ही है। जिनवर और जीवमें अन्तर नहीं है। भले ही वह एकेन्द्रियका जीव हो या स्वर्गका जीव हो। वह सब तो पर्यायमें है। आत्मवस्तु स्वरूपसे तो परमात्मा ही है। पर्यायके ऊपरसे हटकर जिसकी दृष्टि स्वरूपके ऊपर गई है वह तो अपनेको भी परमात्मस्वरूप ही देखता है और प्रत्येक जीवको भी परमात्मस्वरूप देखता है। सम्यग्दृष्टि सर्व जीवोंको जिनेश्वर जानता है और जिनवरको जीव जानता है। अहा ! कितनी विशाल दृष्टि! अरे, यह बात बैठ जाये तो कल्याण हो जाये; परन्तु ऐसी स्वीकृतिको रोकनेवाले मिथ्या मान्यतारूपी गढ़ोंका पार नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि बारह अंगका सार यह है कि आत्माको जिनवर समान दृष्टिमें लेना, क्योंकि आत्माका स्वरूप परमात्मा जैसा ही है। 2।

मैं एक अखण्ड ज्ञायकमूर्ति हूँ, विकल्पका एक अंश भी मेरा नहीं है—ऐसा स्वाश्रयभाव रहे वह मुक्तिका कारण है; और विकल्पका एक अंश भी मुझे आश्रयरूप है—ऐसा पराश्रयभाव रहे वह बन्धका कारण है।3।

*

दर्शनशुद्धिसे ही आत्मसिद्धि है।4।

भवभ्रमणका अन्त लानेका सच्चा उपाय क्या? `द्रव्यसंयमसे ग्रीवक पायो, फिर पीछो पटक्यो', वहाँ क्या करना शेष रहा?—मार्ग कोई अलग ही है; आजकल तो उलटेसे ही शुरूआत की जाती है। यह क्रियाकाण्ड मोक्षमार्ग नहीं है, परन्तु पारमार्थिक आत्मा तथा सम्यग्दर्शनादिके स्वरूपका निर्णय करके स्वानुभव करना वह मार्ग है; अनुभवमें विशेष लीनता वह श्रावकमार्ग है और उसमें भी विशेष स्वरूपरमणता वह मुनिमार्ग है। साथमें वर्तते बाह्य व्रत-नियम तो अपूर्णताकी—कचासकी प्रगटता है। अरेरे! मोक्षमार्गकी मूल बातमें इतना बडा अन्तर पड गया है।5।

पूर्णताके लक्ष्यसे शुरूआत ही सच्ची शुरूआत है।6।

समस्त सिद्धान्तोंके सारका सार तो बहिर्मुखता छोड़कर अन्तर्मुख होना है। श्रीमद् ने कहा है न!— उपजे मोह विकल्पसे समस्त यह संसार, अंतर्मुख अवलोकतें विलय होत नहिं वार। ज्ञानीके एक वचनमें अनन्त गम्भीरता भरी है। अहो ! जो भाग्यशाली होगी उसे इस तत्त्वका रस आयेगा और तत्त्वके संस्कार गहरे उतरेंगे।7।

निमित्तकी अपेक्षा ली जाये तो बन्ध-मोक्ष दो पक्ष पड़ते हैं और उसकी अपेक्षा न लेकर अकेला निरपेक्ष तत्त्व ही लक्षमें लिया जाये तो स्वपर्याय प्रकट होती है।8।

चमड़ा उतारकर जूते बनवा दें तथापि जिस उपकारका बदला न दिया जा सके ऐसा उपकार गुरु आदिका होता है। उसके बदले उनके उपकारका लोप करे वह तो अनन्त संसारी

है। किसके पास श्रवण किया जाये इसका भी जिसे विवेक नहीं है वह आत्माको समझनेके योग्य नहीं है— पात्र नहीं है। जिनके लौकिक न्याय-नीतिका भी ठिकाना नहीं है ऐसे जीव शास्त्रोंका प्रवचन करें और जो सुनने जायें वे श्रोता भी पात्र नहीं हैं।9।

भगवान आत्मा केवलज्ञानकी मूर्ति है और यह शरीर तो जड़ धूल-मिट्टी है; उसे आत्माका स्पर्श ही कहाँ है?—क्योंकि सर्व पदार्थ अपने द्रव्यमें अन्तर्मग्न अपने अनन्त धर्मोंके चक्रको चूमते हैं—स्पर्श करते हैं तथापि वे परस्पर एक-दूसरेका स्पर्श नहीं करते। अहा! भगवान आत्मा अपनी शक्तियोंको तथा पर्यायोंको स्पर्शता है परन्तु परमाणु आदिको या उसकी पर्यायोंको स्पर्श नहीं करता। ज्ञायक आत्मा अपने अनन्त गुणस्वभावोंको और उनकी निर्मल पर्यायोंको चूमता है, स्पर्शता है, परन्तु उनके सिवा शरीर, मन, वाणी, कर्म या स्त्री-पुत्र-परिवार इत्यादि किन्हीं बाह्य पदार्थओंका कभी स्पर्श नहीं किया है, स्पर्श करता भी नहीं है। परसे बिलकुल भिन्न ऐसे इस भगवान आत्मामें जिसने अपनी दृष्टि स्थापित की है वह धर्मात्मा पुरुष निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ एक ज्ञानस्वरूप निज आत्माको ही अनुभवता है।10।

अखण्ड द्रव्य और पर्याय दोनोंका ज्ञान होनेपर भी अखण्ड स्वभावकी ओर लक्ष रखना, उपयोगकी डोर अखण्ड द्रव्यकी ओर ले जाना, वह अन्तरमें समभावको प्रकट करता है। स्वाश्रय द्वारा बन्धका नाश करनेवाली जो निर्मल पर्याय प्रकट हुई उसे भगवान मोक्षमार्ग अर्थात् धर्म कहते हैं।11।

भक्ति अर्थात् भजना। किसे भजना? अपने स्वरूपको भजना। मेरा स्वरूप निर्मल एवं निर्विकारी—सिद्ध जैसा—है उसकी यथार्थ प्रतीति करके उसे भजना वही निश्चय भक्ति है, और वही परमार्थ स्तुति है। निचली भूमिकामें देव-शास्त्र-गुरुकी भक्तिका भाव आये वह व्यवहार है, शुभराग है। कोई कहेगा कि यह बात कठिन लगती है। किन्तु भाई ! अनन्त धर्मात्मा क्षणमें

भिन्न तत्त्वोंकी प्रतीति करके स्वरूपमें स्थिर होकर—स्वरूपकी निश्चय भक्ति करके—मोक्ष गये हैं, वर्तमानमें कुछ जा रहे है और भविष्यमें अनन्त जीव उसी प्रकार जायेंगे। 12।

जिसके ध्येयमें, रुचिमें तथा प्रेममें ज्ञायकभाव ही पड़ा है उसे शुभ विकल्पमें या अन्यत्र कहीं अटकना अच्छा नहीं लगता। अहा! अन्तर ज्ञायक स्वभावमें जाननेकी उत्कण्ठा है। जिसे बाहरका—आत्मस्वभावमें नहीं हैं ऐसे जो पुण्य-पापके भाव आत्मस्वभावमें नहीं हैं ऐसे जो पुण्य-पापके भाव और उसका फलका—रस और प्रेम है उसे ज्ञायकस्वभावका प्रेम नहीं है और जिसे आत्माके ज्ञायकभावका प्रेम लगा उसे पुण्यके परिणामसे लेकर सारा जगत प्रेमका विषय नहीं है। अहा! ऐसे ज्ञायकभावका जिसे रस है उसे उसकी प्राप्तिकी निरन्तर रुचि एवं भावना रहती है। जिसे बाहरका प्रेम है कि दुनिया मुझए कैसे माने, दुनियामें कैसे मेरी प्रसिद्धि हो, मुझमें अच्छा जानपना हो तो दुनिया मुझे बड़ा माने, उसे ज्ञायकस्वभावके प्रति रुचि और प्रेम नहीं है। 13।

दो द्रव्यकी क्रिया भिन्न ही है। जड़की क्रिया चेतन नहीं करता, चेतनकी क्रिया जड़ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्यको दो क्रियाएँ करता माने वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि दो द्रव्योंकी क्रिया एक द्रव्य करता है ऐसा मानना वह जिनका मत नहीं है इस जगतमें वस्तु है वह अपने स्वभावमात्र ही है। प्रत्येक वस्तु द्रव्यसे, गुणसे तथा पर्यायसे परिपूर्ण स्वतंत्र है। ऐसा होनेसे आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिए वह स्वभावदशामें ज्ञानका ही कर्ता है और विभावदशामें अज्ञान, राग-द्वेषका कर्ता है; परन्तु परका कर्ता तो कभी भी नहीं होता। परभाव (रागादि विकारी भाव) भी कोई अन्य द्रव्य नहीं कराता, क्योंकि एक द्रव्यकी दूसरे द्रव्यमें नास्ति है; तथापि पर्यायमें विकार होता है वह पुरुषार्थकी विपरीतता अथवा निर्बलतासे होता है, परन्तु स्वभावमें वह नहीं है ऐसा ज्ञान होने पर (क्रमशः) विकारका नाश होता है।14।

भगवानने कहा है कि पर्यायदृष्टिका फल संसार है और द्रव्यदृष्टिका फल वीतरागता—मोक्ष है। 15।

* साधक जीवकी दृष्टि *

अध्यात्ममें सदा निश्चयनय ही मुख्य है; उसीके आश्रयसे धर्म होता है। शास्त्रोंमें जहाँ विकारी पर्यायोंका व्यवहारनयसे कथन किया जाये वहाँ भी निश्चयनयको ही मुख्य और व्यवहारनयको गौण करनेका आशय है—ऐसा समझना; क्योंकि पुरुषार्थ द्वारा अपनेमें शुद्धपर्याय प्रकट करने अर्थात् विकारी पर्याय टालनेके लिये सदा निश्चयनय ही आदरणीय है; उस समय दोनों नयोंका ज्ञान होता है परन्तु धर्म प्रकट करनेके लिए दोनों नय कभी आदरणीय नहीं है। व्यवहारनयके आश्रयसे कभी धर्म अंशतः भी नहीं होता, परन्तु उसके आश्रयसे तो राग-द्वेषके विकल्प ही उठते हैं।

छहों द्रव्य, उनके गुण और उनकी पर्यायोंके स्वरूपका ज्ञान करनेके लिए कभी निश्चयनयकी मुख्यता और व्यवहारनयकी गौणता रखकर कथन किया जाता है, और व्यवहारनयको मुख्य करके तथा निश्चयनयको गौण रखकर कथन किया जाता है; स्वयं विचार करे उसमें भी कभी निश्चय-नयकी मुख्यता और कभी व्यवहारनयकी मुख्यता की जाती है; अध्यात्मशास्त्रमें भी जीवकी विकारी पर्याय जीवका अनन्य परिणाम है—ऐसा व्यवहारनयसे कहनेमें–समझनेमें आता है; परन्तु वहाँ प्रत्येक समय निश्चयनय एक ही मुख्य तथा आदरणीय है ऐसा ज्ञानियोंका कथन है। शुद्धता प्रकट करनेके लिए कभी निश्चयनय आदरणीय है और कभी व्यवहारनय आदरणीय है—ऐसा मानना वह भूल है। तीनों काल अकेले निश्चयनयके आश्रयसे ही धर्म प्रगट होता है ऐसा समझना।

साधक जीव प्रारम्भसे अन्त तक निश्चयकी ही मुख्यता रखकर व्यवहारको गौण ही करते जाते हैं, इसलिए साधकदशामें निश्चयकी मुख्यताके बलसे साधकको शुद्धताकी वृद्धि ही

होती जाती है और अशुद्धता टलती ही जाती है। इस प्रकार निश्चयकी मुख्यताके बलसे पूर्ण केवलज्ञान होने पर वहाँ मुख्य-गौणपणा नहीं होता और नय भी नहीं होते। 16।

अनन्त गुणस्वरूप आत्मा, उसके एकरूप स्वरूपको दृष्टिमें लेकर, उसे (आत्माको) एकको ध्येय बनाकर उसमें एकाग्रताका प्रयत्न करना ही सर्व प्रथम शान्ति–सुखका उपाय है। 17।

समयसारमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने मात्र अध्यात्मरस भरा है। उन्हींकी परम्परासे इन योगसार तथा परमात्मप्रकाश आदि अध्यात्मशास्त्रोंकी रचना हुई है। समयसारादिकी टीका द्वारा अध्यात्मके रहस्य खोलकर अमृतके स्रोत प्रवाहित करनेवाले श्री अमृतचंद्रसूरि पुरुषार्थसिद्धियुपायमें कहते हैं कि आत्माका निश्चय सो सम्यग्दर्शन, आत्माका ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान और आत्मामें निश्चलस्थिति सो सम्यक्चारित्र—ऐसे रत्नत्रय वह मोक्षमार्ग है और वह आत्माका स्वभाव ही है, उससे बन्धन नहीं होता। बन्धन तो रागसे होता है; रत्नत्रय तो रागरहित हैं, उनसे कर्मबन्ध नहीं होता, वे तो मोक्षके ही कारण हैं, इसलिये मुमुक्षुजन अंतर्मुख होकर ऐसे मोक्षमार्गका सेवन करो और परमानन्दरूप परिणमो। आज ही आत्मा अनन्तगुणधाम ऐसे स्वयंका अनुभव करो। 18।

सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिए—आत्माका अनुभव करनेके लिए प्रथम क्या करें? प्रथम श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव निज आत्माका निर्णय करना।

प्रत्येक जीव सुखकी इच्छा रखता है; तो पूर्ण सुख किसने प्रगट किया है, वह पुरुष कौन है, उसकी पहिचान करना और उस पूर्ण पुरुषने सुखका स्वरूप क्या कहा है उसे जानना। उस सर्वज्ञपुरुषकी कही हुई वाणी वह आगम है। इसलिए प्रथम आगममें आत्माके सुखका स्वरूप क्या कहा है वह गुरुगमसे बराबर जानकर, उसका अवलम्बन करके ज्ञानस्वभाव

आत्माका निर्णय करना। निर्णय वह पात्रता है और आत्माका अनुभव वह उसका फल है। ऐसा निर्णय करनेकी जहाँ रुचि हुई वहाँ अन्तरमें कषायका रस मन्द पड़ ही जाता है। कषायका रस मन्द पड़े बिना इस निर्णयमें नहीं पहुँचा जा सकता।

प्रथम श्रुतज्ञानका अवलम्बन करना—उसमें सच्चे आगम कौनसे हैं ? उसका कथन करनेवाला पुरुष कौन है ? इत्यादि सब निर्णय करना आ जाता है। ज्ञानस्वरूप आत्माका निर्णय करनेमें सच्चे देव-शास्त्र-गुरुका निर्णय करना आदि सब साथ आ जाता है।19।

भरत चक्रवर्ती जैसे धर्मात्मा भी भोजनके समय रास्ते पर आकर किन्हीं मुनिराजके आगमनकी प्रतीक्षा करते थे, और मुनिराज पधारने पर परम भक्तिसे आहारदान देते थे। अहा ! मानों आंगनमें कल्पवृक्ष फला हो, उससे भी विशेष आनन्द धर्मात्माको मोक्षमार्गसाधक मुनिराजको अपने आँगनमें देखकरहोता है। स्वयंको रागरहित चैतन्यस्वभावकी दृष्टि है और सर्वसंगत्यागतकी भावना है वहाँ साधक गृहस्थको ऐसे शुभभाव आते हैं। उस शुभरागकी जितनी मर्यादा है उतनी वह जानता है। अन्तरका मोक्षमार्ग तो रागसे पार चैतन्यस्वभावके आश्रयसे परिणमता है। श्रावकके व्रतोंमें मात्र शुभरागकी बात नहीं है। जो शुभराग है उसे तो जैन शासनमें पुण्य कहा है और उस समय श्रावकको स्वभावके आश्रयसे जितनी शुद्धता वर्तती है उतना धर्म है; वह परमार्थव्रत है और वह मोक्षका साधन है—ऐसा जानना। 20।

वस्तुस्थितिकी अचलित मर्यादाको तोड़ना अशक्य होनेके कारण वस्तु द्रव्यान्तर या गुणान्तररूपसे संक्रमणको प्राप्त नहीं होती; गुणान्तरमें पर्याय भी आ गई। वस्तु अपने आप स्वतन्त्र पलटे, अपनी शक्तिसे पलटे, तब स्वतन्त्ररूपसे उसकी पर्याय खिलती है। कोई जबरन् पलट नहीं सकता या कोई जबरन् समझाकर उसकी पर्यायको खिला नहीं सकता। यदि किसीको जबरन् समझाया जा सकता हो तो त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव सबको मोक्षमें न ले जायें ! परंतु तीर्थंकरदेव किसीको मोक्षमें नहीं ले जाते। स्वयं समझे तब अपनी मोक्षपर्याय खिलती है।21।

स्वरूपमें लीनताके समय पर्यायमें भी शान्ति और वस्तुमें भी शान्ति, आत्माके आनन्दरसमें शान्ति, शान्ति और शान्ति; वस्तु और पर्यायमें ओतप्रोत शान्ति। रागमिश्रित विचार था वह खेद छूटकर पर्यायमें और वस्तुमें समता, समता और समता; वर्तमान पर्यायमें भी समता और त्रैकालिक वस्तुमें भी समता। आत्माका आनन्दरस बाहर और भीतर सर्व प्रकार प्रस्फुटित हो जाता है; आत्मा विकल्पके जालको लाँघकर आनन्दरसरूप ऐसे अपने स्वरूपको प्राप्त होता है। 22।

पैसा रहना या नहीं रहना वह अपने हाथकी बात नहीं है। जब पुण्य पलटता है तब दुकान जल जाती है, बीमा कम्पनी टूट जाती है, पुत्री विधवा हो जाती है आदि सब सुविधाएँ एकसाथ पलट जाती हैं। कोई कहे कि ऐसा तो कभी-कभी होता है न ? अरे ! पुण्य पलटे तो सर्व प्रसंग पलटनेमें देर नहीं लगती। परद्रव्यको कैसे रहना वह तेरे हाथकी बात ही नहीं है न। इसलिए सदा-स्थायी सुखनिधान निज आत्माकी पहिचान करके उसमें स्थिर हो जा। 23।

अहा ! सन्त आत्माका सुन्दर एकत्व-विभक्त स्वरूप बतलाते हैं। अपूर्व प्रीति लाकर वह श्रवण करने योग्य ह। जगतका परिचय छोड़कर, प्रेमसे आत्माका परिचय करके भीतर उसका अनुभव करने योग्य है। ऐसे अनुभवमें परम शान्ति प्रकट होती है और अनादिकी अशान्ति मिट जाती है। आत्माके ऐसे स्वभावका श्रवण-परिचय-अनुभव दुर्लभ है, परन्तु वर्तमानमें उसकी प्राप्तिका सुलभ अवसर आया है। इसलिए हे जीव ! दूसरा सब भूलकर तू अपने शुद्धस्वरूपको लक्ष्यमें ले और उसमें निवास कर। यही करने योग्य है। 24।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव जैसे वीतरागी सन्तके स्वानुभवके आनन्दमय प्रसादरूप यह ‘समयसार’ शास्त्र है; इसकी महिमा अद्भुत, अचिन्त्य और अलौकिक है। अहो ! यह समयसार

तो अशरीरीभाव बतलानेवाला शास्त्र है; इसके भाव समझनेसे अशरीरी सिद्धपदकी प्राप्ति होती है। कुन्दकुन्दप्रभुकी तो क्या बात ! परन्तु अमृतचन्द्रआचार्यदेवने भी टीकामें आत्माकी अनुभूतिके अगाध गम्भीरभाव खोलकर जगत पर महान उपकार किया है। मोक्षका मूलमार्ग इन सन्तोंने जगतसमक्ष प्रसिद्ध किया है।....चैतन्यके कपाट खोल दिये हैं। 25।

दयाधर्म माने क्या ? आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावी, त्रिकाल वीतरागस्वभावी—दयास्वभावी प्रभु है; उसमें अन्तर्दृष्टि करनेसे, पर्यायमें रागादिकी उत्पत्ति न होकर, चैतन्यकी निर्मल परिणति—वीतराग परिणति—उत्पन्न होना सो दयाधर्म है। वह आत्मरूप है, आत्माके स्वभावरूप है। ऐसा दयाधर्म सम्यग्दृष्टिको होता है, अज्ञानीको नहीं होता।

विकल्पके कालमें सम्यग्दृष्टिको परकी रक्षा करनेका विकल्प कदाचित् होता है, तथापि उस विकल्पमें 'मैं परकी रक्षा करनेवाला हूँ'—ऐसा जानता है कि पर जीवका जीवन तो उसकी योग्यतासे उसकी आयुके कारण है, उसमें मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है; मैं तो निमित्तमात्र हूँ। अहा ! धर्मी पुरुष तो परके जीवनसमयमें अपनेको जो परदयाका विकल्प हुआ और योगकी क्रिया हुई उसका भी मात्र ज्ञाता रहता है, कर्ता नहीं होता, तो फिर परके जीवनका कर्ता वह कैसे होगा ? भाई ! मैं परकी दया पाल सकता हूँ—ऐसी मान्यता मिथ्यात्व एवं अज्ञानभाव है, वह दीर्घ संसारका कारण है। भाई ! वीतरागमार्गकी ऐसी बात सर्वज्ञ परमेश्वरके शासनके सिवा अन्यत्र कही नहीं है। 26।

□

जगतमें जो कुछ सुन्दरता हो, जो कुछ पवित्रता हो, वह सब आत्मामें भरी है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने समयसारमें कहा है :—

एकत्व-निश्चयगत समय सर्वत्र सुन्दर लोकमें।
उससे बने बन्धनकथा जु विरोधिनी एकत्वमें।।

—ऐसे सुन्दर आत्माको अनुभवमें लेनेसे उसके सर्व गुणोंकी सुन्दरता और पवित्रता एकसाथ प्रकट होती है। प्रत्येक समयकी पर्यायमें अनन्त गुणोंका स्वाद एकसाथ है; वे अनुभवमें एकसाथ समाते हैं; परन्तु विकल्प करके एक-एक गुणकी गिनती द्वारा आत्माके अनन्तगुणोंको पकड़ना चाहे तो अनन्तकालमें भी पकड़में नहीं आयेंगे। एक आत्मामें उपयोग लगानेसे उसमें उसके अनन्तगुणोंकी पर्यायें निर्मलरूपसे अवश्य अनुभवमें आती हैं। हे भाई ! एसे अनुभवकी अभिलाषा और उत्साह कर। बाहरकी तथा विकल्पकी अभिलाषा छोड दे, क्योंकि उससे चैतन्यके गुण पकड़में नहीं आते। उपयोगको—रुचिको बाहरसे समेटकर निश्चलरूपसे अन्तरमें लगा, जिससे तुझे तत्क्षण विकल्प टूटकर अतीन्द्रिय आनन्द सहित अनन्तगुणस्वरूप निज आत्माका अनुभव होगा। 27।

रागके विकल्पसे खण्डित होता था वह जीव स्वरूपका निर्णय करके भीतर स्वरूपमें स्थिर हुआ वहाँ जो खण्ड होता था वह रुक गया और अकेला आत्मा अनन्त गुणोंसे भरपूर आनन्दस्वरूप रह गया। मैं शुद्ध हूँ, मैं अशुद्ध हूँ, मैं बद्ध हूँ, मैं अबद्ध हूँ—ऐसे विकल्प थे वे छूट गये और जो अकेला आत्मतत्त्व रह गया उसका नाम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा वही समयसार है। समयसार सो यह पन्ने नहीं, अक्षर नहीं, वे तो जड़ हैं। आत्माके आनन्दमें लीनता ही समयसार है। आत्मस्वरूपका बराबर निर्णय करके विकल्प छूट जायें, पश्चात् अनन्तगुणसामर्थ्यसे भरपूर अकेला रहा जो निज शुद्धात्मतत्त्व वही समयसार है।28।

संसारमें पुण्यकी प्रधानता है और धर्ममें गुणकी प्रधानता है। इसलिए ज्ञानी पुण्यसे दूर रहकर उसमें स्वामित्वरूपसे एकमेक न होकर निस्पृहरूपसे जानता है, और अज्ञानी उसमें तल्लीन होता है। पुण्य एक तत्व है, परन्तु उससे ज्ञानी नहीं हुआ जाता, उससे आत्माका हित नहीं होता। जो जीव पुण्यवैभव, यशःकीर्ति पर देखता है वह, जीव-अजीवके लक्षणकी भिन्नता नहीं समझनेसे अज्ञानी है।

प्रवचनसारमें कहा है कि पुण्य और पाप दोनों, आत्माके धर्म नहीं होनेसे, निश्चयसे समान ही हैं—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।

हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो।।

नहि मानतो ए रीत पुण्ये पापमां न विशेष छे,

ते मोहथी आच्छन्न घोर अपार संसारे भमे.

जिसप्रकार सुवर्णकी बेड़ी और लोहेकी बेड़ी दोनों अविशेषरूपसे बाँधनेका ही कार्य करती हैं, उसीप्रकार पुण्य और पाप दोनों अविशेषरूपसे बन्धन ही हैं। जो जीव पुण्य और पापका अविशेषपना (–समानपना) कभी नहीं मानता, उसको इस भयंकर संसारमें परिभ्रमणका कभी अन्त नहीं आता।

ज्ञानीको हित-अहितका यथार्थ विवेक होनेसे, जो भी पुण्य-पापके संयोग हैं उनका वह मात्र ज्ञाता रहता है। चाहे जैसे संयोग हों परन्तु ज्ञानी निर्दोषरूपसे उन्हें जानता रहता है। 29।

शुद्ध चैतन्य ज्ञायकप्रभुकी दृष्टि, ज्ञान तथा अनुभव वह साधकदशा है। उससे पूर्ण साध्यदशा प्रकट होगी। साधकदशा है तो निर्मल ज्ञानधारा, परन्तु वह भी आत्माका मूल स्वभाव नहीं है; क्योंकि वह साधनामय अपूर्ण पर्याय है। प्रभु ! तू पूर्णानन्दका नाथ—सच्चिदानंद प्रभु—आत्मा है न ? पर्यायमें रागादि भले हों, परन्तु वस्तु मूलस्वरूपसे ऐसी नहीं है। उस निज पूर्णानन्द प्रभुकी साधना—परमानन्दरूपमें एकाग्रतारूप साधकदशाकी साधना—ऐसी कर कि जिससे तेरा साध्य—मोक्ष—पूर्ण हो जाए। 30।

इच्छाका निरोध करके स्वरूप—स्वभावकी स्थिरताको भगवान 'तप' कहते हैं। स्वरूपमें विश्रान्तिरूप चैतन्यका—ज्ञायकका निस्तरंग प्रतपन होना, दैदीप्यमान होना वह तप है। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् अकषाय स्वभावके बलसे आहारादिकी इच्छा टूटकर स्वरूपमें स्थिरता हो वह तप है। भीतर जहाँ ऐसी स्थिति हो वहाँ, बीचमें अशुभमें न जानेके लिये, अनशनादि बारह प्रकारके शुभभावोंको तप कहा है वह उपचारसे है। उसमें जो शुभराग रहा है वह गुणकारी—निर्जराका कारण—नहीं है। पुण्य-पाप रहित स्वभावके बलसे शुद्धताकी वृद्धि और थोड़ी-थोड़ी रागकी हीनता होना वह निर्जरा है। 'तपसा निर्जरा च' ऐसा श्री उमास्वामी-आचार्यदेवने तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है; उसका अर्थ भोजनका त्याग सो तपश्चर्या नहीं है, परन्तु स्वभावमें रमणता होनेपर भोजन सहज ही छूट जाए वह तप है। ऐसा तप जीवने अनादि कालमें पहले कभी किया नहीं है।

'मैं अखण्डानंद परिपूर्ण ज्ञायकतत्त्व हूँ' इसप्रकार स्वभावके लक्ष्यसे स्थिर हुआ वहाँ राग छूटनेसे, रागमें निमित्त जो शरीर उसके ऊपरका लक्ष्य सहज ही छूट जाता है और शरीरका लक्ष्य छूटनेसे आहारादि भी छूट जाते हैं। इसीप्रकार स्वभावके भान सहित भीतर शान्तिपूर्वक स्थिर हुआ वही तपश्चर्या है। स्वभावके भान बिना 'इच्छाको रोकूँ, त्याग करूँ, ऐसा कहे, किन्तु भान बिना वह किसके आधारसे त्याग करेगा? किसमें जाकर स्थिर होगा ? वस्तुस्वरूप तो यथार्थरूपसे समझा नहीं है।

आत्मामें रोटी आदि किन्हीं भी जड़पदार्थोंका ग्रहण-त्याग नहीं है, परका किसीप्रकार पकड़ना-छोड़ना नहीं हैं। मैं निरालम्बी ज्ञायकस्वभावी हूँ ऐसी श्रद्धाके बलसे भीतर स्वरूपमें एकाग्र होनेपर आहारादिका विकल्प छूट जाए सो तप है और अन्तरकी लीनतामें जो आनन्द वह तपश्चर्याका फल है। 31।

प्रवचनसार और समयसारमें भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव तथा श्री अमृतचंद्राचार्यदेवका अन्तर्नाद है कि हम जैसा कहते हैं वैसा ही वस्तुका स्वरूप है और वह

सर्वज्ञके घरकी बात हम स्वकीय अनुभवसे कहते हैं। इस स्वरूपके समझने, श्रद्धा करनेसे एक-दो भवमें अवश्य मोक्ष होता है—इसप्रकार अप्रतिहत भावकी बात की है; गिर जानेकी बात नहीं है। जो स्वरूप असीम है, अनन्त है, स्वाधीन है, उसका भीतरसे यथार्थ निर्णय होनेके बाद फिर क्यों गिरेगा? जिसभावसे पूर्णकी श्रद्धा की है वही भाव (स्वानुभव) सम्पूर्ण निर्मल आत्मपद प्रदान करता है। 32।

जगतमें अधिकतर ऐसी भ्रामक मान्यताएँ प्रचलित हैं कि कर्ताके बिना यह जगत नहीं बन सकता, एक आत्मा दूसरेके जीवन-मरण, सुख-दुःख, उपकार-अपकार कर सकता है, आत्माकी प्रेरणासे शरीर चल-फिर, बोल सकता है, कर्म आत्माको हैरान करते हैं, किसीके आशीर्वादसे दूसरेका कल्याण होता है और श्रापसे अकल्याण होता है, देव-गुरुकी कृपासे मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है, हम बराबर सम्भाल रखें तो शरीर अच्छा रह सकता है और बराबर ध्यान न रखें तो शरीर बिगड़ जाता है, कुम्हार घड़ा बना सकता है, स्वर्णकार गहने बना सकता है आदि। परन्तु 'अन्य जीवोंका हिताहित मैं ही करता हूँ' ऐसा जो मानता है वह अपनेको अन्य जीवरूप मानका है, तथा 'पौद्गलिक पदार्थोंकी क्रियाको मैं ही करता हूँ' ऐसा जो मानता है वह अपनेको पुद्गलद्रव्यस्वरूप मानता है। इसलिए ऐसी भ्रामक मान्यताएँ छोड़नेयोग्य हैं। 'कर्ता एक द्रव्य हो और उसका कर्म दूसरे द्रव्यकी पर्याय हो' ऐसा कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि 'जो परिणमे वह कर्ता, परिणाम वह कर्म और परिणति वह क्रिया—यह तीनों एक ही द्रव्यकी अभिन्न अवस्थाएँ हैं'। तथा 'एक द्रव्यका कर्ता अन्य द्रव्य हो तो दोनों द्रव्य एक हो जायें क्योंकि कर्ता-कर्मपना अथवा परिणाम-परिणामीपना एक द्रव्यमें ही हो सकता है। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप हो जाये तो उस द्रव्यका ही नाश हो जायेगा यह महान दोष आयेगा। इसलिए एक द्रव्यको अन्य द्रव्यका कर्ता कहना उचित नहीं है'। तथा 'वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखतीं'। वस्तुकी उस-उस समयकी जो-जो अवस्था (अव=निश्चय+स्था=स्थिति अर्थात् निश्चयसे अपनेमें अपनी स्थिति) वही उसकी व्यवस्था है। इसलिए उसकी व्यववस्था करनेके

लिए किसी भी परपदार्थकी जरूरत नहीं पड़ती। ऐसी जिसकी मान्यता होती है वह प्रत्येक वस्तुको स्वतन्त्र तथा परिपूर्ण स्वीकार करता है। परद्रव्यके परिणमनमें मेरे हाथ नहीं है और मेरे परिणमनमें किसी अन्य द्रव्यका हाथ नहीं है। ऐसा माननेसे परके कर्तृत्वका अभिमान सहज ही टल जाता है इसलिए अज्ञानभावसे जो अनन्त वीर्य परमें रुका रहता था वह स्वोन्मुख हुआ वही अनन्त पुरुषार्थ है और उसीमें अनन्त शान्ति है।—यह दृष्टि वही द्रव्यदृष्टि हुई और वही सम्यग्दृष्टि हुई। 33।

जो जीव पापकार्योंमें तो उत्साहपूर्वक धन लगाता है और धर्मकार्योंमें कंजूसी करता है उसे धर्मका सच्चा प्रेम नहीं है। धर्मप्रेमी गृहस्थ संसारकी अपेक्षा धर्मकार्योंमें अधिक उत्साहसे वर्तता है। 34।

ज्ञान एवं आनन्दादि अनन्त पूर्ण शक्तिके भण्डार ऐसे सत्स्वरूप भगवान निज ज्ञायक आत्माके आश्रयमें जानेपर निर्विकल्प सम्यग्दर्शन होता है तब उसके अनन्त गुणोंका अंश—आंशिक शुद्ध परिणमन—प्रकट होता है और सर्व गुणोंकी पर्यायोंका वेदन होता है। उसे श्रीमद् राजचन्द्र 'सर्वगुणांश सो सम्यक्त्व' और पं. टोडरमलजी रहस्यपूर्ण चिट्ठीमें 'चतुर्थ गुणस्थानमें आत्माके ज्ञानादिक गुण एकदेश प्रकट हुए हैं'—ऐसा कहते हैं। वह बात बहिनके बोलमें (बहिनश्री चम्पाबहिनके वचनामृतमें) इस प्रकार आयी है :—''निर्विकल्प स्वानुभूतिकी दशामें आनन्दगुणकी आश्चर्यकारी पर्याय प्रकट होनेसे आत्माके सर्व गुणोंका (यथासम्भव) आंशिक शुद्ध परिणमन प्रगट होता है और सर्व गुणोंकी पर्यायोंका वेदन होता है।''

भीतर आत्मा पूर्णानन्दका नाथ है उसकी जिसे दृष्टि हुई है उसे 'वस्तु अन्तरमें परिपूर्ण है' ऐसा अनुभव—वेदन होनेसे, अनन्त गुणोंका अंशतः यथासम्भव व्यक्तपना होनेसे, वह सम्यक्त्वी है। 35।

भगवान सर्वज्ञके मुखारविन्दसे निकली हुई वीतराग वाणी परम्परासे गणधरों तथा मुनियोंसे चली आती है। उस वीतरागी वाणीमें कहे हुए तत्त्वोंका स्वरूप विपरीताभिनिवेष रहित जिसे बैठ गया है उस भव्य जीवके भव नष्ट हो जाते हैं। उसे भव रहते ही नहीं। भगवानकी वाणी भवका घात करनेवाली है; वह जिसे बैठ जाए उस जीवकी काललब्धि भी पक गई है।36।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयप्राभृतमें कहते हैं कि—मैं जो यह भाव कहना चाहता हूँ उसे अन्तरके आत्मसाक्षीके प्रमाण द्वारा प्रमाण करना; क्योंकि यह अनुभवप्रधान शास्त्र है, उसमें मेरे वर्तते हुए स्वात्मवैभव द्वारा कहा जाता है। ऐसा कहकर छठवीं गाथा प्रारम्भ करते हुए आचार्य भगवान कहते हैं कि, 'आत्मद्रव्य अप्रमत्त नहीं है और प्रमत्त नहीं है अर्थात् इन दो अवस्थाओंका निषेध करता हुआ मैं एक अखण्ड ज्ञाता हूँ—यह अपनी वर्तमान वर्तती दशासे कहता हूँ'। मुनिपनेकी दशा अप्रमत्त और प्रमत्त इन दो भूमिकाओंमें हजारों बार आ-जा करती है, उस भूमिकामें वर्तते महामुनिका यह कथन है।

समयप्राभृत अर्थात् समयसाररूपी भेट। जैसे राजाको मिलनेके लिए भेट देनी पड़ती है उसीप्रकार अपनी परम उत्कृष्ट आत्मदशास्वरूप परमात्मदशा प्रगट करनेके लिए समयसार जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप आत्मा उसकी परिणतिरूप भेट देनेसे परमात्मदशा—सिद्धदशा—प्रकट होती है।

इस शब्दब्रह्मरूप परमागमसे दर्शाये हुए एकत्वविभक्त आत्माको प्रमाण करना, स्वीकार ही करना, कल्पना नहीं करना। इसका बहुमान करनेवाला भी महाभाग्यशाली है। 37।

सत्समागमसे आत्माकी पहिचान करके आत्मानुभव करो। आत्मानुभवका ऐसा माहात्म्य है कि परिषह आनेपर भी जीवकी ज्ञानधारा विचलित नहीं होती। तीनकाल और तीनलोककी प्रतिकूलताके ढेर एकसाथ सामने आकर खड़े हो जायें तथापि मात्र ज्ञातारूप रहकर वह सब सहन करनेकी शक्ति आत्माके ज्ञायकस्वभावकी एक समयकी पर्यायमें विद्यमान है।

शरीरादि एवं रागादिसे भिन्नरूप जिसने आत्माको जाना उसे वे परिषहोंके ढेर किञ्चित् भी असर नहीं कर सकते—चैतन्य अपनी ज्ञातृधारासे जरा भी विचलित न हो और स्वरूपस्थिरतापूर्वक दो घड़ी स्वरूपमें लीनता हो तो पूर्ण केवलज्ञान प्रकट करे, जीवन्मुक्तदशा हो और मोक्षदशा हो। 38।

अज्ञानी मानता है कि भगवान मुझे तार देंगे—उबार देंगे; इसका तो यह अर्थ हुआ कि मुझमें कुछ नहीं है, मैं तो बिलकुल सत्त्वहीन हूँ। इसप्रकार पराधीन होकर, साक्षात् भगवानके सामने या उनकी वीतराग प्रतिमाके सामने रंक होकर, कहता है कि—भगवान ! मुझे भवबन्धनसे छुड़ा लेना, मुझे मुक्ति देने। 'दीन भयो प्रभुपद जपै, मुक्ति कहाँसे होय ?' रंक होकर कहता है कि हे प्रभु ! मुझे मुक्ति दो; परन्तु भगवानके पास कहाँ तेरी मुक्ति है ? तेरी मुक्ति तो तुझमें ही है। भगवान तुझसे कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, मैं भी स्वतन्त्र हूँ और तू भी स्वतन्त्र है, तेरी मुक्ति तुझमें ही है;—ऐसी पहिचान कर। पहिचान द्वारा तिरनेका उपाय अपनेमें जाना तब भगवानमें आरोप लगाकर विनयसे कहा जाता है कि 'भगवाने मुझे तार दिया'; वह शुभभाव है और वह व्यवहारसे स्तुति है।

शरीरादि सो मैं हूँ, पुण्य-पाप भाव भी मैं हूँ—ऐसे मिथ्या भाव छूटकर 'मैं एक चैतन्यस्वभावसे अनन्तगुणकी मूर्ति हूँ' ऐसी प्रतीतिपूर्वक भगवानकी ओरका जो शुभभाव हो वह व्यवहारसे स्तुति है और ऐसी प्रतीतिपूर्वक साथ वर्तती हुई शुभभावसे भिन्न जो स्वरूपावलम्बी शुद्धि है वह परमार्थसे स्तुति है।39।

शास्त्रमें व्यवहार और परमार्थ दोनों प्रकारसे बात आती है। शास्त्रमें एक जगह ऐसा कहा हो कि आत्मामें कभी कहीं राग-द्वेष नहीं है; वहाँ ऐसा समझना कि वह कथन स्वभावकी अपेक्षासे द्रव्यदृष्टिसे है। तथा उसी शास्त्रमें दूसरी जगह ऐसा कहा हो कि राग-द्वेष आत्मामें होते

हैं; वहाँ ऐसा समझना कि वह कथन वर्तमान अशुद्धदशाकी अपेक्षासे पर्यायदृष्टिसे है। इसप्रकार वह कथन जैसे है वैसा समझना, परन्तु दोनोंकी खिचड़ी करके समझना नहीं।

तथा शास्त्रमें 'आत्मा नित्य है' ऐसा जो कथन है वह द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे है और आत्मा अनित्य है' ऐसा जो कथन है वह पर्याय-अपेक्षासे अवस्थादृष्टिसे है। वे दोनों कथन जिस अपेक्षापूर्वक हैं उसे न जाने और आत्माको सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मान ले तो वह अज्ञानी है, एकान्तदृष्टि है। दोनों पक्षोंको जैसे हैं वैसे बराबर समझकर, चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा पर तथा विभावसे भिन्न शुद्ध ज्ञायक है ऐसी जो दृष्टि वह परमार्थदृष्टि—ध्रौव्यदृष्टि है। क्षण-क्षण बदलती जो अवस्था उसपर दृष्टि लगाना वह व्यवहारदृष्टि—भंगदृष्टि—भेददृष्टि है। 40।

यह समयसार शास्त्र आगमोंका भी आगम है; लाखों शास्त्रोंका निचोड़ इसमें भरा बै; जैनशासनका यह स्तंभ है; साधककी यह कामधेनु है; कल्पवृक्ष है; चौदह पूर्वका रहस्य इसमें समाया हुआ है। इसकी प्रत्येक गाथा छठवें-सातवें गुणस्थानमें झूलते हुए महामुनिके आत्म-अनुभवमेंसे निकली है। 41।

आत्मा कर्ता और जड़कर्मकी अवस्था उसका कार्य—ऐसा कैसे हो सकता है ? तथा जड़कर्म कर्ता और जीवके विकारी परिणाम उसका कार्य—ऐसा भी कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। कई लोगोंको बड़ा भ्रम है कि कर्मके कारण विकार होता है, किन्तु ऐसा है ही नहीं। निमित्तसे विकार होता है ऐसा शास्त्रमें जो कथन आता है उसका अर्थ 'निमित्तसे आश्रय करनेसे विकार होता है' ऐसा है। यदि जीव पुद्गलमें नहीं है और पुद्गल जीवमें नहीं है, तो फिर उनमें कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है ? इसलिए जीव तो ज्ञाता है वह ज्ञाता ही है, पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं है; और पुद्गलकर्म है वह पुद्गल ही है, ज्ञाताका कर्म नहीं है। इसप्रकार प्रकट भिन्न द्रव्य हैं

तथापि 'मैं कर्ता हूँ और यह पुद्गल मेरा कर्म है' ऐसा अज्ञानियोंका यह मोह (–अज्ञान) क्यों नाचता है ? 42

'मुझे बाहरका कुछ चाहिये' ऐसा माननेवाला भिखारी है। 'मुझे तो अपना एक आत्मा ही चाहिए, दूसरा कुछ नहीं' ऐसा माननेवाला बादशाह है। आत्मा अचिन्त्य शक्तियोंका स्वामी है। जिस क्षण जागे उसी क्षण आनन्दस्वरूप जागृत ज्योति अनुभवमें आ सकती है। 43।

अन्तरके भावमेंसे—गहराईमेंसे भावना उठे तो मार्ग सरल हो। आत्मा भीतर शुद्धचैतन्य है। अन्तरकी रुचिसे उसकी भावना उठे और वस्तुके लक्ष्य सहित पठन-मनन करे तो मार्ग मिलता है। श्री मोक्षमार्गप्रकाशकमें आता है कि, पठन सच्चा हो तथापि जो मान और बड़ाईके लिए पढ़ता है उसका ज्ञान मिथ्या है। उसका हेतु जगतको संतुष्ट करने तथा अपनी विशेषता—बड़प्पन पोषने हो तो उसका सब पठन-चिन्तन अज्ञान है। 44।

स्याद्वाद तो सनातन जैनदर्शन है; उसे जैसा है वैसा समझना चाहिए। वस्तु त्रैकालिक ध्रुव है; उसकी अपेक्षासे एक समयकी शुद्ध पर्यायको भी भले ही हेय कहते है; परन्तु दूसरी ओर शुभराग आता है—होता है; उसके निमित्त देव-शास्त्र-गुरुकी श्रद्धाका शुभ राग होता है। भगवानकी प्रतिमा होती है; उसे जो न माने वह भी मिथ्यादृष्टि है। भले ही उससे धर्म नहीं होता, परन्तु उसका उत्थापन करे तो मिथ्यादृष्टि है। शुभराग हेय है, दुःखरूप है, परन्तु वह भाव होता है; उसके निमित्त भगवानकी प्रतिमा आदि होते है; उनका निषेध करे तो वह जैनदर्शनको नहीं समझा है, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है। 45।

परमात्माकी प्रतिमाको पूजनेका भाव आये, परन्तु वह धर्म नहीं है। भूमिकामें अभी साधकपना है इसलिए ऐसे भाव तो आयेंगे न ? सिद्धपना नहीं है उतना बाधकपना है इसलिए ऐसे शुभभाव आते हैं; परन्तु वे हेयरूपसे आते हैं, जाननेके लिए आते हैं; ज्ञानी तो उनका मात्र ज्ञाता ही है। समयसार-नाटकमें आता है कि—

''कहत बनारसी अलप भवथिति जाकी,
सोई जिनप्रतिमा प्रवाँनै जिन सारखी।''

जिनेन्द्रदेवकी मूर्ति साक्षात् जिनेन्द्रतुल्य वीतरागभाववाही होती है। जिस अपेक्षासे कहा हो वह अपेक्षा जाननी चाहिए। जिनप्रतिमा है, उसकी पूजा, भक्ति सब है। जब स्वरूपमें स्थिर नहीं हो सकता तब, अशुभसे बचनेके लिए, ऐसा शुभभाव आये बिना नहीं रहता। 'ऐसा भाव आता ही नहीं'—ऐसा जो माने उसे वस्तुस्वरूपकी खबर नहीं है; और आयें इसलिए 'उत्तम धर्म है'—ऐसा माने तब भी वह बराबर नहीं है; वह शुभराग बन्धका कारण है।

जब तक अबन्ध परिणाम पूर्ण प्रगट नहीं हुए हैं, तब तक अपूर्णदशामें ऐसे बन्धके परिणाम होते हैं। होते हैं इसलिए वे आदरणीय हैं—ऐसा भी नहीं है।

निज परमात्मतत्त्वको ही ग्रहण कर, उसीमें लीन हो, एक परमाणुमात्रकी भी आसक्ति छोड़ दे। जिसे निजपरमात्मस्वभावका आश्रय करना है उसे रजकणको तथा रागके अंशको भी छोड़ देना पड़ेगा। उसमें अपनत्वका अभिप्राय छोड़ दिया इसलिए सम्यग्दर्शन हुआ, फिर भी ऐसा शुभभाव आता है। आये वह जाननेयोग्य है, उस काल जाना हुआ प्रयोजनवान है। 46।

क्रोधादि होनेके कालमें, कोई भी जीव अपने अस्तित्व बिना 'यह क्रोधादि हैं' ऐसा जान ही नहीं सकता। अपनी विद्यमानतामें ही वे क्रोधादि ज्ञात होते हैं। रागादिको जानते हुए भी 'ज्ञान....ज्ञान...ज्ञान' ऐसा मुख्यरूपसे ज्ञात होनेपर भी 'ज्ञान सो मैं' ऐसा न मानकर, ज्ञानमें

ज्ञात होनेवाले 'रागादि सो मैं' ऐसा, रागमें एकताबुद्धिसे जानता है—मानता है; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है। 47।

चैतन्यपरिणतिका वेग बाहर—निमित्तकी ओर—ढले वह बन्धनभाव है, चैतन्यपरिणतिका वेग भीतर—स्वकी ओर—ढले वह अबन्धभाव है। स्वाश्रयभावसे बन्धन और पराश्रयभावसे मुक्ति तीनों कालमें नहीं है।

विकल्पका एक अंश भी मेरा नहीं है, मैं तो निर्विकल्प चिदानन्दमूर्ति हूँ ऐसा स्वाश्रयभाव रहे वह मुक्तिका कारण है; विकल्पका एक अंश भी मुझे आश्रयरूप है ऐसा पराश्रयभाव रहे वह बन्धका कारण है।

पराश्रयभावमें—भले ही देव-शास्त्र-गुरुकी भक्तिका या व्रत-तप-दया-दानादिका जो शुभभाव हो उसमें—बन्धका एक अंश भी अभाव करनेकी शक्ति नहीं है और मैं अखण्ड ज्ञायकमूर्ति हूँ ऐसी स्वसन्मुख प्रतीतिके बलमें बन्धका एक अंश भी होनेकी शक्ति नहीं है।

पराश्रयभावमें मोक्षमार्गकी और मोक्षपर्यायकी उत्पत्ति नहीं होती और स्वाश्रयभावमें मोक्षमार्ग तथा मोक्षपर्याय दोनोंकी उत्पत्ति होती है। ध्रौव्य तो एकरूप परिपूर्ण है; मोक्षपर्यायका उत्पाद तथा संसारपर्यायका व्यय होता है।

स्वभावकी शुद्धिको रोकनेवाला वह बन्धनभाव है; स्वभावका विकास रुक जाना और विकारमें लग जाना वह बन्धभाव है। 48।

भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप और राग आकुलतास्वरूप—इसप्रकार ज्ञानीको दोनों भिन्न भासते हैं। त्रैकालिक नित्यानंद चैतन्यप्रभु पर दृष्टि जानेसे साथमें जो ज्ञान होता है वह, चैतन्य और रागको अत्यन्त भिन्न जानता है। जिसे तत्त्वकी दृष्टि हुई है उसे सम्यग्ज्ञान होता है; जिसे दृष्टि नहीं हुई उसे चैतन्य और रागको भिन्न जाननेकी शक्ति नहीं है। 49।

सहज ज्ञान और आनन्दादि अनन्त गुणसमृद्धिसे भरपूर जो निज ज्ञायक तत्त्व है उसे अपूर्ण, विकारी एवं पूर्ण पर्यायकी अपेक्षा बिना लक्षमें लेना सो द्रव्यदृष्टि है, वही यथार्थ दृष्टि है। श्रुतज्ञानके बल द्वारा प्रथम ज्ञानस्वभाव आत्माका बराबर निर्णय करके मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञानके व्यापारको आत्मसन्मुख किया वह व्यवहार है,—प्रयत्न करना वह व्यवहार है। इन्द्रियों और मनकी ओर रुकनेवाला तथा अल्प विकासवाले ज्ञानके व्यापारको स्वोन्मुख करना वह व्यवहार है। सहज शुद्ध-पारिणामिकभाव तो परिपूर्ण एकरूप है; पर्यायमें अपूर्णता है, विकार है, इसलिए प्रयास करनेका रहता है। पर्यायदृष्टिसे विकार और अपूर्णता है; उसे तत्त्वदृष्टिके बलपूर्वक हटाकर साधक जीव अनुक्रमसे पूर्ण निर्मलता प्रकट करता है। यथार्थदृष्टि होनेके पश्चात् साधकदशा बीचमें आये बिना नहीं रहती। आत्माका भान करके स्वभावमें एकाग्र होता है तभी परमात्मस्वरूप समयसारका अनुभव करता है, आत्माके अपूर्व एवं अनुपम आनन्दका अनुभव करता है, आनन्दके झरने झरते हैं। 50।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवका हमारे ऊपर बहुत उपकार है, हम उनके दासानुदास हैं।....श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेहक्षेत्रमें सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमंधर भगवानके समवसरणमें गये थे और वहाँ वे आठ दिन रहे थे इस सम्बन्धमें अणुमात्र भी शंका नहीं है। यह बात ऐसे ही है; कल्पना मत करना, नकार मत करना; मानो तब भी ऐसे ही है, न मानों तब भी ऐसे ही है। यथातथ्य बात है, अक्षरशः सत्य है, प्रमाणसिद्ध है। 51।

जिसे पुण्यकी रुचि है उसे जड़की रुचि है, उसे आत्माके धर्मकी रुचि नहीं है। 52।

जाननेमें अटकना होता नहीं, परन्तु जो जीव निमित्ताश्रित बुद्धि करके अटके हैं वे जीव मात्र बाते करते है, अन्तर्मुख ज्ञायकस्वभावका पुरुषार्थ करनेकी बुद्धि नहीं करते।

‘भगवानने् देखा होगा वैसा होगा, उनके ज्ञानमें जितने भव देखे होंगे उतने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवभ्रमण हुए बिना मोक्ष नहीं होगा, जिस समय काललब्धि पकेगी उस समय सम्यग्दर्शन होगा’—इसप्रकार भावमें और कथनमें निःसत्त्व होकर, निमित्ताधिनता रखकर पुरुषार्थको उड़ाते हैं। पुरुषार्थ रहित होकर द्रव्यानुयोगकी बातें करे तो वह निश्चयाभासी है। जिसे केवलज्ञानीका विश्वास हुआ उसको चारों ओरसे समान—अविरोध प्रतीति होना चाहिए, और उसीने ‘केवलज्ञानीने देखा’ उसका सच्चा स्वीकार किया है। जिसने केवलज्ञानीको माना उसे रागकी रुचि, कर्तापनेरूप अज्ञान नहीं होता; उसे ऐसी विपरीत श्रद्धा भी नहीं होती कि ‘केवली भगवानने मेरे भव देखे हैं इसलिए अब, मैं पुरुषार्थ नहीं करूँगा—कर नहीं सकूँगा, पुरुषार्थ अपने आप जाग्रत होगा’।—ऐसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि है, उसके अन्तरमें केवलीकी श्रद्धा बैठी ही नहीं हैं। श्रीमद् राजचन्द्रने कहा है न !—‘जो इच्छो परमार्थ तो करो सत्य पुरुषार्थ; भवस्थिति आदि नाम लई छेदो नहि आत्मार्थ’। 53।

आत्मद्रव्य सर्वज्ञस्वभावी है। जिसने सर्वज्ञको अपनी पर्यायमें स्थापित किया उसके सर्वज्ञ होनेका निर्णय आ गया। बस, वह ‘ज्ञ’ स्वभावमें विशेष स्थिर होते-होते पर्यायमें सर्वज्ञ हो जायेगा। 54।

प्रश्न :–मोक्षके लिए पुण्य पहली सीढ़ी तो है न ?

उत्तर :–नहीं, पुण्य तो विभाव है—परभाव है, मोक्षसे विरुद्ध भाव है, उसमें कहीं आत्माका आनन्द या ज्ञान नहीं है। इसलिए वह मोक्षकी पहली सीढ़ी नहीं है। अनन्तबार पुण्य कर चुका तथापि मोक्ष तो हाथ नहीं आया, मोक्षकी ओर एक डग भी नहीं भरा गया; मोक्षकी प्रथम सीढ़ी तो सम्यग्दर्शन है और वह तो पुण्य-पाप दोनोंसे पार है। भेदज्ञान द्वारा आत्माको पुण्य-पाप दोनोंसे भिन्न जाने तब निज शुद्ध आत्माका सम्यग्दर्शन और अनुभव होता है। निज शुद्ध आत्माके अनुभव द्वारा ही तीर्थंकर भगवानके मार्गका—मोक्षमार्गका मंगल प्रारम्भ होता है; इसलिए वह मोक्षमहलकी प्रथम सीढ़ी है। पं. दौलतरामजीने छहढालामें कहा है कि—

मोक्षमहलकी परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा,
सम्यक्ता न लहै सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा।
'दौल' समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै,
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहीं होवै।।

मोक्षमार्गकी वृद्धि और पूर्णता भी उसीप्रकार होती है, पुण्य द्वारा नहीं होती। पुण्य छोड़नेसे मोक्ष होता है, रखनेसे नहीं। पुण्य द्वारा लक्ष्मी आदि धूलके ढेर मिलते हैं, परमात्मपना नहीं मिलता। परमात्मपना तो सम्पूर्ण वीतरागभावसे ही मिलता है। इस प्रकार वीतरागता ही धर्म है, वही भगवानका मार्ग है और वही सर्व शास्त्रोंका सार है। 55।

ज्ञान और रागको लक्षणभेदसे सर्वथा भिन्न करो तभी सर्वज्ञस्वभावी शुद्ध जीव लक्ष्यमें आ सकता है। जैसे—जो सम्पूर्ण वीतराग हो वही सर्वज्ञ हो सकता है, उसीप्रकार जो सर्व प्रकारके रागसे ज्ञायककी भिन्नता समझे वही सर्वज्ञस्वभावी आत्माको पहिचान—अनुभव कर सकता है। ऐसी सानुभव पहिचान करनेवाले जीव विरले ही हैं। जिस प्रकार पापभाव शुद्धात्माकी स्वानुभूतिसे बाहर हैं, उसीप्रकार पुण्यभाव भी बाहर ही रहते हैं, स्वानुभूतिमें प्रवेश नहीं करते; और इसीसे उन्हें 'अभूतार्थ' कहा है। पुण्य-पाप रहित निज शुद्ध आत्माकी—भूतार्थ ज्ञायकस्वभावकी—अन्तरमें दृष्टि होने पर स्वानुभूति प्रकट होती है, और वही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। 56।

रागमें शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद भले करो, उनका विवेक भले करो, किन्तु वे दोनों भाव आस्रव हैं और उनका बन्धमार्गमें समावेश होता है, स्वर-निर्जरामें नहीं; वह एक भी भेद मोक्षमें या मोक्षके कारणमें नहीं आता। मोक्षका मार्ग और मोक्ष—संवर, निर्जरा और मोक्ष—तो उन दोनोंसे भिन्न जातिके ही हैं। शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके रागमें कषायका स्वाद,

निराकुलता उन दोनोंमेंसे किसीमें नहीं है। पंचास्तिकायसंग्रहमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने कहा है :—

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भविओ भवसायरं तरदि।।

तेथी न करवो राग जरीये क्यांय पण मोक्षेच्छुए,
वीतराग थईने जे रीते ते भव्य भवसागर तरे.

यह जानकर क्या करें ? तो कहते हैं कि—सर्व प्रकारके राग रहित अपने चिदानन्दतत्त्वको बराबर लक्ष्यमें लेकर उसीको ध्याना। शुभाशुभ रागको अर्थात् पुण्य-पापको मोक्ष या मोक्षमार्गमें सहायकारी नहीं जानना किन्तु विघ्नहारी लुटेरे समझना। अहा, वीतराग होनेकी वीतराग परमात्माकी यह बात कायर जीव नहीं झेल सकते; पुण्यसे धर्म नहीं होता—यह बात सुनते ही चौंक उठते हैं—उनके कलेजे काँप उठते हैं . ज्ञानी तो मोक्षके हेतु एक शुद्धोपयोगको ही मान्य रखते हैं, रागके किसी कणको उसमें नहीं मिलाते; शुभ और अशुभ दोनोंसे विरक्त होकर वीतरागी शुद्धोपयोगको ही मोक्षके साधनरूपसे स्वीकार करते हैं। 57।

हाथीके दाँत दिखानेके अलग और चबानेके अलग। दिखानेके दाँत बड़े होते हैं और वे चित्रकारीमें तथा शोभा बढ़ानेमें काम आते हैं; चबानेके दाँत छोटे हैं और वे खानेके काम आते हैं। शास्त्र तो 'दादाजी'की चिट्ठी जैसे हैं, उनका आशय समझनेकी कुशलता प्राप्त करनी चाहिए। शास्त्रमें व्यवहारके कथन अनेक होते हैं परन्तु जितने व्यवहारके और निमित्तके कथन हैं वे अपने गुणमें काम नहीं आते किन्तु परमार्थको समझानेमें काम आते हैं। आत्मा परमार्थतः परसे भिन्न है उसकी श्रद्धा करके, उसमें लीन हो तो आत्माको मस्ती चढे। जो परमार्थ है वह व्यवहारमें—समझानेमें काम नहीं आता, किन्तु उसके द्वारा आत्माको शान्ति होती है। ऐसा यह प्रकट नयविभाग है। 58।

राग-द्वेष और पुण्य-पापसे पार आत्मानुभूतिस्वरूप शुद्ध मार्गको ज्ञानी ही जानते हैं, अज्ञानी तो पुण्यको ही धर्म मानकर रागमें ही अटक जाते हैं। पाप वह अधर्म है और पुण्य वह धर्म—इतना ही लौकिकजन समझते हैं, किन्तु पुण्य और पाप—ये दोनों अधर्म हैं और धर्म तो उन दोनोंसे पार ऐसे वीतरागी चैतन्यभावरूप है। यह बात मात्र जैनधर्ममें ही है और विरले ज्ञानीजन ही उसे समझते हैं तथा कहते हैं।

जिस प्रकार लोहेकी या सोनेकी बेड़ी बाँधती ही है उसीप्रकार, पुण्यको भले ही सोनेकी कहो तथापि वह बेड़ी जीवको संसारमें बाँधती है, मोक्ष नहीं होने देती; वह पुण्यकी बेड़ी भी तोड़कर मोक्ष होता है। अज्ञानीको पुण्यकी बात मीठी लगती है, परन्तु चैतन्यकी राग रहित मीठासको वह नहीं जानता। चैतन्यका मीठा वीतरागी स्वाद चखनेवालेको पुण्यका कषाय भी कड़वा लगता है।—ऐसे ज्ञानी ही मोक्षको साधते हैं। 59।

ज्ञानीकी दृष्टि अखण्ड ध्रुवस्वभाव पर है, अज्ञानीकी दृष्टि निमित्त पर है। निमित्तकी ओर दृष्टि है वह पराश्रयदृष्टि है। 'निमित्त' कोई वस्तु नहीं है—ऐसा नहीं है, निमित्त वस्तु है अवश्य; यदि निमित्त कोई वस्तु न हो तो बन्ध और मोक्ष ऐसी दो अवस्थाएँ हो नहीं सकती। निमित्त है ऐसा जानना, वह सब व्यवहारनय है। व्यवहारको जाननेसे अपूर्णदशाका ख्याल रहता है, व्यवहारको जाननेसे कही व्यवहारका आश्रय आ जाए—ऐसा नहीं है। निश्चयनयका विषय जो अखण्ड ज्ञायकवस्तु है उसका आश्रय करनेसे मुनिवर मोक्ष प्राप्त करते हैं। 60।

अपने पीछे विकराल शेर झपट्टे मारता हुआ दौड़ता आ रहा हो तो वहाँ कैसी दौड़ लगाता है ? क्या वहाँ थकान उतारनेके लिये खड़ा रहेगा ? उसीप्रकार अरे ! यह काल झपट्टे मारता हुआ चला आ रहा है और भीतर काम बहुतसे करना हैं ऐसा अपनेको अन्तरमें लगना चाहिए। 61।

सम्यग्दर्शन कोई अपूर्व वस्तु है। शरीरकी खाल उतारकर नमक छिड़कनेवाले पर भी क्रोध नहीं किया—ऐसे व्यवहारचारित्र इस जीवने अनन्तबार पाले हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन एक बार भी प्राप्त नहीं किया। लाखों जीवोंकी हिंसाके पापकी अपेक्षा मिथ्यादर्शनका पाप अनन्तगुना है। सम्यक्त्व सरल नहीं है, लाखों करोड़ोंमें किसी विरले जीवको ही वह होता है। सम्यक्त्वी समस्त ब्रह्मांडके भावोंको पी गया होता है।....सम्यक्त्व कोई अलग ही वस्तु है। सम्यक्त्व रहित क्रियाएँ इकाई बिना शून्यके समान हैं। सम्यक्त्वका स्वरूप अत्यन्त ही सूक्ष्म है।....हीरेका मूल्य हजारों रुपया होता है, उसके पहल पड़नेसे खिरी हुई रजका मूल्य भी सैकड़ो रुपया होता है; उसी प्रकार सम्यक्तव-हीरेका मूल्य तो अमूल्य है, वह यदि मिल गया तब तो कल्याण हो जायेगा परन्तु वह नहीं मिला तब भी 'सम्यक्त्व कुछ अलग ही वस्तु है'—इसप्रकार उसका माहात्म्य समझकर उसे प्राप्त करनेकी उत्कण्ठारूप रज भी महान लाभ देती है।

जानपना वह ज्ञान नहीं है। सम्यक्त्व सहित जानपना ही ज्ञान है। ग्यारह अंग कण्ठाग्र हों परन्तु न हो तो वह अज्ञान है। आजकल तो सब अपने-अपने घरका सम्यक्त्व मान बैठे हैं। सम्यक्त्वीको तो मोक्षके अनन्त अतीन्द्रिय सुखका नमूना प्राप्त हो गया है। वह नमूना मोक्षसुखके अनन्तवें भाग बराबर होने पर भी अनन्त है। 62।

जैनदर्शनमें मात्र बाह्य क्रियाका ही प्रतिपादन नहीं है परन्तु उसमें सूक्ष्म तत्त्वज्ञान भरपूर भरा है। इस महँगे मनुष्यभवमें यदि जीवने शरीर, वाणी और मनसे पर ऐसे परम तत्त्वका भान नहीं किया, उसकी रुचि भी नहीं की तो यह मनुष्यभव निष्फल है। 63।

मुनिदशा होनेपर सहज ही निर्ग्रंथ दिगम्बर दशा हो जाती है। मुनिकी दशा तीनों काल नग्न दिगंबर होती है। यह कोई पक्ष या फिरका नहीं है किन्तु अनादि सत्य वस्तुस्थिति है।

शंका :—मुनिदशामें वस्त्र हों तो आपत्ति क्या है ? वस्त्र तो परवस्तु हैं, वे कहाँ आत्माको बाधक होते हैं ?

समाधान :–वस्त्र तो परवस्तु हैं और वे कहीं आत्माको बाधक नहीं है यह बात भी सच है; परन्तु वस्त्र ग्रहण करनेकी जो बुद्धि है वह रागमय बुद्धि ही मुनिदशाको रोकनेवाली है। अन्तरंग रमणता करते-करते मुनियोंको इतनी उदासीन दशा सहज ही हो जाती है कि वस्त्र ग्रहण करनेका विकल्प ही नहीं उठता। 64।

परके निमित्तसे तथा अपनी योग्यताके कारण जीव पर्यायमें भूल करे तो जो राग-द्वेषरूप धुआँ उठता है वह अशुद्ध उपादानसे हुई जीवकी—जीवके वीतरागस्वभाव नामक चारित्रगुणकी—अरूपी विकाररूप विपरीत दशा है। उस क्षणिक विकारीदशाका चैतन्यस्वभावमें प्रवेश नहीं है। यदि कर्म आदि परनिमित्तके बिना ही विकार हो तो वह स्वभाव हो जाए और स्वभाव तो कभी टलता नहीं है। परन्तु यह भूल तो क्षणिक अवस्था जितनी है और वह त्रैकालिक परिपूर्ण स्वभावके भान द्वारा टल जाती है। जो टल जायें वह स्वभावके घरका कैसे कहा जायेगा ? जो त्रिकाल साथ रहे वही अपना माना जाता है। 65।

स्त्री-पुत्र-परिवार वह कहीं संसार नहीं है। अपनी पर्यायमें जो मोह-राग-द्वेषरूप विभाव भाव हैं वहीं संसार है। यदि स्त्री-पुत्रादि संसार हो तो मृत्यु होनेपर यह शरीर, स्त्री, पुत्रादि सब यहीं पड़े रह जायेंगे, तो क्या तेरा संसार मिट जाएगा और मोक्ष हो जाएगा ? भाई ! स्त्री-पुत्रादि तो संसार हैं ही नहीं। अपने ज्ञानस्वरूपकी महिमासे च्युत होकर जो परके कर्तृत्वका भाव तथा मिथ्यात्व सहित अथवा अस्थिरता सहित राग-द्वेषरूप भाव वही संसार है। 66.

श्वेत वस्त्र परके निमित्तसे मलिन दिखाई देता है, परन्तु उसे वर्तमानमें स्वभावसे स्वच्छ देखा जा सकता है। दृष्टांतमें तो देखनेवाला दूसरा है किन्तु आत्मामें तो स्वयं ही द्रष्टा है। आत्मामें जो वर्तमान मलिन दशा है वह उसका मूल स्वभाव नहीं है; इसलिए वर्तमानमें

मलिनदशावाला जीव भी अपना निर्मल स्वभाव देख सकता है, उसकी प्रतीति कर सकता है।67।

अनन्त ज्ञानियोंका एक ही आशय होता है। सर्वज्ञ वीतराग भगवन्तों द्वारा कथित जो आत्मप्राप्तिका मार्ग—मोक्षमार्ग वह तीनों काल एक ही है। जिसे वह प्राप्त करनेकी रुचि है, सद्गुरुके समागमकी तीव्र छटपटी है, उसे वह प्राप्त हुए बिना नहीं रहता। कदाचित् सद्गुरुका योग न बने तो अन्तरसे, पूर्वके संस्कारसे स्वयं आत्मज्ञान होता है, अथवा तो प्रत्यक्ष गुरुका योग मिल जाये और अन्तरमें वही पूर्ण परमार्थकी लगन हो उसे ऐसा मार्ग मिल ही जाता है। 68।

जो सहज आत्मस्वरूपमें गुप्त होकर रहता है, स्वसन्मुख होकर स्वरूपमें स्थिर होता है वह बद्ध-अबद्धके पक्षमें रागमें नहीं खड़ा रहता; रागकी जालोंको हटाकर जिसका चित्त शान्त हुआ है वह निज आत्माके आनन्दामृत-स्वभावका स्वाद लेता है, आकुलताका अभाव होकर निराकुल निज शान्तरसका स्वाद लेता है, नयपक्षके त्यागकी भावनाको नचाकर आत्माके अमृतका पान करता है। 69।

तालाबकी ऊपरी सतह बाहरसे एक-सी लगती है, परन्तु भीतर उतरकर उसकी गहराईका माप करने पर किनारे और मध्यकी गहराईमें कितना अन्तर है वह ज्ञात होता है; उसीप्रकार ज्ञानी और अज्ञानीके वचन ऊपर-ऊपरसे देखनेमें समान लगते हैं, किन्तु अन्तरका गम्भीर रहस्य देखने पर उनके आशयमें कितना अन्तर है वह समझमें आता है। 70।

परिणाम परिणामीसे (द्रव्यसे) भिन्न नहीं है, क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु है—भिन्न-भिन्न दो नहीं है। पर्याय जिसमेंसे हो उससे वह भिन्न वस्तु नहीं हो सकती। सोना और सोनेका गहना दोनों अलग हो सकते हैं ? कदापि नहीं होते। सोनेमें अँगूठीकी अवस्था हुई,

वहाँ अंगूठीरूप अवस्था कहीं रह गई और सोना अन्यत्र कहीं रह गया ऐसा हो सकता है ? कभी नहीं होता। कोई कहे कि—अंगूठी तो सोनारने बनाई है, परन्तु सोनारने अँगूठी नहीं बनाई, अँगूठी बनानेकी इच्छा सोनारने की है। इच्छाका कर्ता सोनार है परन्तु अँगूठीका कर्ता सोनार नहीं है, सोनार तो मात्र निमित्त है, उसने अँगूठी नहीं बनाई है। अँगूठीका कर्ता सोना है, सोनेमेंसे ही अँगूठी हुई है; उसीप्रकार चैतन्यकी जो भी अवस्था होती है वह चैतन्यद्रव्यसे अभिन्न होनेसे उसका कर्त्ता चैतन्य है और जड़की जो भी अवस्था हो वह जड़-द्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण उसका कर्त्ता जड़ है इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि जो भी क्रियाएँ हैं वे सभी क्रियावान अर्थात् द्रव्यसे भिन्न नहीं हैं। वस्तुके बिना अवस्था नहीं होती और अवस्थाके बिना वस्तु नहीं हो सकती। 71।

जिस क्षण विकारी भाव किया उसी क्षण जीव उसका भोक्ता है, कर्म फिर उदयमें आयेगा और फिर भोगा जायेगा ऐसा कहना वह व्यवहार है। अज्ञानी परद्रव्यको कर-भोग नहीं सकता परन्तु मानता है कि 'मैं परद्रव्यको करता-भोगता हूँ'। ज्ञानी परद्रव्यकी जो अवस्था हो उसका ज्ञाता रहता है, इसलिए उसकी ज्ञानपर्याय बढ़ती जाती है। ज्ञानी ज्ञानका कर्ता होता है, किन्तु परद्रव्यकी अवस्थाका कर्त्ता नहीं होता। अज्ञानी परद्रव्यकी अवस्था कर नहीं सकता किन्तु कर्त्तापना मान लेता है। अज्ञानी अपने शुभाशुभभावको करता है परन्तु जड़कर्मका कर्त्ता कदापि नहीं है, अर्थात् अज्ञानी भावकर्मका कर्त्ता है परन्तु पुद्गल-द्रव्यस्वरूप द्रव्यकर्म तथा नोकर्मका कर्त्ता तो कदापि नहीं है। 72।

जिस घर न जाना हो उसे भी जानना तो चाहिए कि यह घर अपना नहीं परन्तु दूसरेका है। उसीप्रकार पर्यायका आश्रय नहीं करना है इसलिए उसका ज्ञान भी नहीं करे तो एकान्त हो जाएगा, प्रमाणज्ञान नहीं होगा। पर्यायका आश्रय छोड़नेयोग्य होनेपर भी उसका जिसप्रकार है उस प्रकार ज्ञान तो करना पड़ेगा, तभी निश्चयनयका ज्ञान सच्चा होगा। 73।

हे भव्य ! तू भावश्रुतज्ञानरूपी अमृतका पान कर। सम्यक् श्रुतज्ञान द्वारा आत्माका अनुभव करके निर्विकल्प आनन्दरसका पान कर, जिससे तेरी अनादि मोहतृषाका दाह मिट जाए। तूने चैतन्यरसके प्याले कभी नहीं पिये हैं, अज्ञानसे तूने मोह-राग-द्वेषरूप विषके प्याले पिये हैं। भाई ! अब तो वीतरागके वचनामृत प्राप्त करके अपने आत्माके चैतन्यरसका पान कर; जिससे तेरी आकुलता मिटकर सिद्धपदकी प्राप्ति हो। आत्माको भूलकर बाह्य भावोंका अनुभव वह तो विषका पान करने जैसा है; भले ही शुभराग हो, परन्तु उसके स्वादमें भी कहीं अमृत नहीं है, विष ही है। इसलिए उससे भी भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माको श्रद्धामें लेकर उसके स्वानुभवरूपी अमृतका पान कर। अहा ! श्रीगुरु वत्सलतासे चैतन्यका प्रेमरसका प्याला पिलाते हैं। वीतरागकी वाणी आत्माका परमशान्तरस दिखानेवाली है । ऐसे वीतरागी शान्त चैतन्यरसका अनुभव वह भावशुद्धि है। उसीके द्वारा तीनलोकमें सर्वोत्तम परम-आनन्दस्वरूप सिद्धपदकी प्राप्ति होती है। 74।

अहो, धन्य वह मुनिदशा ! मुनिराज कहते हैं कि हम तो चिदानन्दस्वभावमें झूलनेवाले हैं; हम इस संसारके भोगके लिये अवतरित नहीं हुए हैं। हम तो अब अपने आत्मस्वभावकी ओर झुकते हैं। अब हमारा स्वरूपस्थित होनेका समय आ गया है। अन्तरके आनन्दस्वभावकी श्रद्धा सहित उसमें रमणता करने हेतु जागृत हुए उस भावमें अब भंग नहीं पड़ेगा। अनन्त तीर्थंकर जिस पथ पर विचरे उसी पथके हम पथिक हैं। 75।

ज्ञानीका आन्तरिक जीवन समझनेके लिए अंतरकी पात्रता चाहिए। पूर्वप्रारब्धके योगसे बाह्य संयोगोंमें खड़े होनेपर भी धर्मात्माकी परिणति अंतरमें कुछ और ही कार्य करती है। संयोगदृष्टिसे देखे उसे स्वभाव समझमें नहीं आयेगा। धर्मात्माकी दृष्टि संयोग पर नहीं किन्तु

आत्माका स्वपर-प्रकाशक स्वभाव क्या है उस पर होती है। ऐसी दृष्टिवाले धर्मात्माका आन्तरिक जीवन अन्तरकी दृष्टिसे समझमें आता है, बाह्य संयोगों परसे उसका माप नहीं होता। 76।

ज्ञायकस्वभाव लक्ष्यमें आये तब क्रमबद्ध पर्याय यथार्थरूपसे समझमें आ सकती है। जो जीव पात्र होकर अपने आत्महितके लिये समझना चाहता है उसे यह बात यथार्थ समझमें आ जाती है। जिसे ज्ञायककी श्रद्धा नहीं है, सर्वज्ञकी श्रद्धा नहीं है, सर्वज्ञकी प्रतीति नहीं है, अन्तरमें वैराग्य नहीं है और कषायकी मन्दता भी नहीं है ऐसा जीव तो ज्ञायकस्वभावके निर्णयका पुरुषार्थ छोड़कर क्रमबद्धके नामसे स्वच्छंदताका पोषण करता है। जो जीव क्रमबद्ध पर्यायको यथार्थरूपसे समझता है उसे स्वच्छन्दता हो ही नही सकती। क्रमबद्धको यथार्थ समझे वह जीव तो ज्ञायक हो जाता है, उसको कर्तृत्वके उछाले शमित हो जाते हैं और वह परद्रव्यका तथा रागका अकर्ता होकर ज्ञायकमें एकाग्र होता जाता है। 77।

मृत्युका समय आयेगा वह कहीं पूछकर नहीं आयेगा कि लो अब तुम्हारा मरनेका समय आ गया है। अरे ! यह संसार तो स्वप्न जैसा है; किसका कुटुम्ब और किसके धन-दौलत ! यह शरीर भी एकदम क्षणभरमें छूट जायेगा। कुटुम्ब, कीर्ति और मकान सब यहीं पड़े रहेंगे। ज्ञायक भगवानको अन्तरसे पृथक् किया होगा तो मरणकालमें वह पृथक् रहेगा। यदि शरीरसे भिन्नता नहीं की होगी तो मरणके समय वह उसकी चपेटमें दब जायेगा। इसलिए अवसर है तब शरीरसे भिन्नता कर लेना योग्य है। 78।

देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक—ये चारों गतियाँ सदा ही हैं, जीवोंके परिणामका फल हैं, कल्पित नहीं है। जिसे, अपनी सुविधा साधनेमें बीचमें असुविधा करनेवाले कितने जीवोंको मार डालना तथा कितने काल तक ऐसी क्रूरता करना उसकी कोई सीमा नहीं है उसे उन अतिशय क्रूर परिणामोंके फलरूप जहाँ अपार दुःख भोगना पड़ता है उस स्थानका नाम

नरक है। लाखों खून करनेवालेको लाख बार फाँसी मिले ऐसा तो इस लोकमें नहीं होता। उसे अपने क्रूर भावोंका जहाँ पूरा फल मिलता है उस अनन्त दुःख भोगनेके क्षेत्रको नरक कहा जाता है। उस नरकगतिके स्थान मध्यलोकके नीचे हैं और शाश्वत हैं। उसे युक्ति एवं न्यायसे बराबर साबित किया जा सकता है।79।

यदि चैतन्यसामर्थ्यका विश्वास करे तो उसके आश्रयसे रत्नत्रयधर्मकी अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ प्रकट होकर मोक्षफल सहित विशाल वृक्ष उगे। भविष्यमें होनेवाले मोक्षवृक्षकी शक्ति वर्तमानमें ही तेरे चैतन्यबीजमें विद्यमान है। सूक्ष्म दृष्टिसे उसे विचारमें लेकर अनुभव करनेसे तेरा अपूर्व कल्याण होगा। 80।

ज्ञानी धर्मात्माको भगवानकी पूजा-भक्ति आदिके भाव आते हैं परन्तु उसकी दृष्टि रागरहित ज्ञायक आत्मा पर पड़ी है; उसे आत्माका भान है; उस भानमें उसे सतत धर्म वर्त रहा है। सत्य समझे उसे वीतराग देव-शास्त्र-गुरुके प्रति भक्तिका प्रशस्त राग आये बिना नहीं रहेगा। मुनिराजको भी ऐसे भक्तिके भाव आते हैं, जिनेन्द्रप्रभुके नामस्मरणसे भी चित्त भक्तिभावसे उछल जाता है। अन्तरमें वीतरागी आत्माका लक्ष हो और बाह्यमें तीव्र राग दूर न हो यह कैसे हो सकता है ? भगवानकी भक्तिके भावका निषेध करके जो खान-पानादिके अशुभ रागमें लगा रहता है वह तो मरकर दुर्गतिमें जायेगा। मेरा स्वरूप ज्ञान है, राग मेरा स्वरूप नहीं है,— इसप्रकार जो सत्यको जानता है उसको लक्ष्मी आदि परपदार्थोंका ममत्व सहज ही कम हो जाता है, और भगवानकी भक्ति, प्रभावनादिके भाव उछलते हैं। तथापि वहाँ वह जानता है कि यह राग है, यह कोई धर्म नहीं है। अन्तरमें शुद्ध चिदान्दस्वरूपको जानकर उसे प्रगट किये बिना जन्म-मरणका अन्त नहीं आयेगा। 81।

धर्म भी ज्ञानीको होता है और उच्च पुण्य भी ज्ञानीको ही बँधता है। अज्ञानीको आत्माके स्वभावकी खबर न होनेसे उसे धर्म भी नहीं है और उच्च पुण्य भी नहीं है। तीर्थंकरपद, चक्रवर्तीपद, बलदेवपद वे सब पद सम्यग्दृष्टि जीवोंको ही बँधते हैं; क्योंकि ज्ञानीको ऐसा भान है कि—अपना एक निर्मल आत्मस्वभाव ही आदरणीय है उसके सिवा रागका एक अंश या पुद्गलका एक रजकण भी आदरणीय नहीं है।—ऐसी प्रतीति होनेपर अभी सम्पूर्ण वीतराग नहीं हुआ है इसलिए रागका भाग आता है। उसमें उच्च जातिका प्रशस्त राग आनेसे तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि उच्च पदवियाँ बँधती हैं। 82।

अन्तरकी गहराईसे रुचि और लगन लगना चाहिए। यदि आत्माके लक्ष्यसे छह मास यथार्थ धुन लगे तो आत्माका अनुभव हुए बिना रहेगा ही नहीं। 83।

शरीर शरीरका कार्य करता है और आत्मा आत्माका। दोनों भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र हैं। शरीरका परिणमन जिस प्रकार होना हो वह उसके अपनेसे ही होता है, उसमें मनुष्यके हाथकी बात कहाँ है ? आत्मामें भी राग और ज्ञानके परिणाम होते हैं उनको आत्मा स्वयं करता है। जहाँ अपना-अपना कार्य करनेमें दोनों पदार्थ स्वतन्त्र हैं, वहाँ कितने बाहरी काम व्यवस्थित किये, इतने कर दिये और इतने करना बाकी हैं—इस बातको स्थान ही कहाँ हैं ? 84।

हिंसा, झूठ, चोरी आदि तो पापभाव हैं, परन्तु दया-दान-पूजा-भक्ति आदि शुभ राग भी परमार्थतः पाप हैं; क्योंकि स्वरूपमेंसे पतित करते हैं। अरे! पापको तो सब पाप कहते हैं परन्तु अनुभवी ज्ञानी जीव तो पुण्यको भी पाप कहते हैं। श्री योगीन्द्रदेवने कहा है न—

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु इ को वि मुणेइ।

जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ।।

बड़ी सूक्ष्म बात है, अन्तरसे समझे तो समझमें आये ऐसी है। 85।

ज्ञानदर्शनस्वभावमात्र अभेद निज तत्त्वकी दृष्टि करने पर उसमें नवतत्त्वरूप परिणमन तो है नहीं। चेतनास्वभावमात्र ज्ञायकवस्तुमें गुणभेद भी नहीं हैं। इसलिए गुणभेद या पर्यायभेदको अभूतार्थ—असत्य कह दिया है। पर्याय पर्यायके रूपमें सत्य है, परन्तु लक्ष्य—आश्रय करनेके लिए असत्य है। दया-दानादिके भाव तो राग है, वह लक्ष्य करने योग्य नहीं है, परन्तु संवर-निर्जरारूप वीतराग निर्मल पर्याय भी लक्ष्य—आश्रय करने योग्य नहीं है; आश्रय करनेयोग्य—आलम्बन लेने योग्य तो एकमात्र त्रिकालशुद्ध ज्ञायकभाव है। 86।

लोग कुलदेवताको साक्षात् रक्षा करनेवाला मानते हैं, परन्तु भीतर तू सामर्थ्यवाला है या नहीं? त्रैकालिक स्वाधीन स्वभावके लक्ष्यसे अन्तरमें तो देख! त्रिकाल स्वतन्त्ररूपसे स्थायी भगवान ज्ञायक आत्मा जोकि ज्ञातास्वरूपसे अखण्ड जागृत है वही साक्षात् देव है। उसीकी श्रद्धा कर, परका आश्रय छोड़, परसे पृथक्त्व दरशानेवाले निर्मल ज्ञानका विवेक कर, स्वभावके बलसे एकाग्रता कर; श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरताको एकरूप स्वभावमें लगा। वही मोक्षमार्ग है। 87।

भाई ! तूने पञ्चमकालमें भरतक्षेत्रमें और निर्धन घरमें जन्म लिया है इसलिए 'हम आजीविका आदिके लिये क्या करें' ऐसा न देख ! तू वर्तमानमें और जब देख तब सिद्ध समान ही है, जिस क्षेत्रमें तथा जिस कालमें जब देख तब तू सिद्ध समान ही है। क्या मुनिराजको खबर हीं होगी कि ये सब जीव संसारी है ? भाई ! संसारी और सिद्ध तो पर्यायकी अपेक्षासे हैं। स्वभावसे तो वे संसारी जीव भी सिद्ध समान शुद्ध ही हैं। 88।

मैं ज्ञायक हूँ....ज्ञायक हूँ....ज्ञायक हूँ—इसप्रकार अन्तरमें घोटते रहना, ज्ञायकके सन्मुख झुकना, ज्ञायकके सन्मुख एकाग्रता करना। अहाहा ! पर्यायको ज्ञायकोन्मुख करना बहुत

कठिन है, उसमें अनन्त पुरुषार्थ चाहिए। ज्ञायकतलमें पर्याय पहुँची, अहाहा ! उसकी क्या बात ! ऐसा पूर्णानन्दका नाथ प्रभु उसकी प्रतीतिमें, उसके विश्वासमें—भरोसेमें आना चाहिए कि अहो ! एक समयकी पर्यायके पीछे इतना महान भगवान वह मैं ही हूँ। 89।

शरीरके एक-एक तसुमें 96-96 रोग हैं; वह शरीर क्षणमें दगा देगा, क्षणमें छूट जायेगा। कुछ सुविधा हो वहाँ घुस जाता है, किन्तु भाई ! तुझे एकबार कहीं जाना है वहाँ किसका महेमान होगा ? कौन तेरा परिचित होगा ? उसका विचार करके अपना तो कुछ कर ले ! शरीर स्वस्थ हो तबतक आँख नहीं खुलती और क्षणमें देह छूटने पर अनजान स्थलमें चला जायेगा ! छोटी-छोटी सी उम्रके लोग भी चले जाते हैं, इसलिए अपना कुछ कर ले ! शास्त्रमें कहा है कि जबतक वृद्धावस्था न आये, शरीरमें व्याधिका जबतक प्रवेश न हो और इन्द्रियाँ जबतक शिथिल न हो जायें तबतक आत्महित कर लेना। 90।

धर्म माने क्या ? धर्मी जीव किसे कहना ? लोग कहते हैं कि हमें धर्म करना है। तो धर्म कहाँसे होगा ? शरीर, वाणी, रुपया-पैसादिसे धर्म नहीं होता; क्योंकि वे सब तो आत्मासे भिन्न अचेतन परद्रव्य हैं, उनमें आत्माका धर्म विद्यमान नहीं है। तथा मिथ्यात्व, हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्यादि पापभाव या दया, दान, पूजा, भक्ति आदि पुण्यभावसे भी धर्म नहीं होता; क्योंकि वे दोनों विकारीभाव हैं। आत्माकी निर्विकारी शुद्ध दशा ही धर्म है। उसका कर्ता आत्मा स्वयं ही है। वह धर्म वीतराग देव-शास्त्र-गुरु या जिनप्रतिमा आदि कहीं बाहरसे नहीं आता किन्तु निज शुद्ध ज्ञायक आत्माके ही आश्रयसे प्रकट होता है। आत्मा ज्ञान तथा आनन्दादि निर्मल गुणोंका शाश्वत खदान है; सत्समागमसे श्रवण-मनन द्वारा उसकी यथार्थ पहिचान करनेपर आत्मामेंसे जो अतीन्द्रिय आनन्दयुक्त निर्मल अंश प्रकट हो वह धर्म है। अनादि-अनन्त एकरूप चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा वह अंशी है, धर्मी है तथा उसके आश्रयसे जो निर्मलता प्रगट होती है वह अंश है, धर्म है। साधक जीवको आश्रय अंशीका होता है, अंशका नहीं और वेदन अंशका होता है परन्तु उसका आलम्बन नहीं होता—उस पर जोर नहीं होता।

आलम्बन तो सदैव शुद्ध अखण्ड एक परमपारिणामिकभावस्वरूप निज आत्मद्रव्यका ही होता है। उसीके आधारसे धर्म कहो या शान्ति कहो—सब होता हैं। 91।

जिसे भवकी थकान लगी हो, जिसे आत्मा कैसा है वह समझनेकी सच्ची जिज्ञासा अन्तरमें जागृत हुई हो, उसे सच्चे गुरु मिलते ही है। 92।

जिस भूमिमें क्षार हो उसमें अनाज बोनेसे उगता नहीं है। अनाज उगानेके लिये जैसे उत्तम भूमि चाहिये, उसीप्रकार निर्मल तत्त्वका स्पष्ट उपदेश पचानेके लिए उत्तम पात्रता चाहिए। 93।

प्रत्येक जीव अपने भावको करता-भोगता है, परवस्तुको करता-भोगता नहीं है। मुँहमें लड्डुका टुकड़ा जाये, उस समय वह जड़-लड्डुको नहीं भोगता किन्तु उसके होनेवाले रागको भोगता है। शरीरमें तीव्र रोग हुआ हो उस समय जीव जड़-रोगको नहीं भोगता किन्तु उसके लक्ष्यसे होनेवाले द्वेषको भोगता है। शुद्धात्माके अनुभवमें धर्मी जीव मुख्यरूपसे राग-द्वेषके कर्ता या भोक्ता नही है, किन्तु स्वभावदृष्टिमें निर्मल पर्यायको करते हैं और उससे आनन्दको भोगते हैं। 94।

कोई तीव्र प्रतिकूलता आ पड़े, कोई उग्र कठोर मर्मच्छेदक वचन कहे, तो शीघ्र ही शरीरस्थित परमानन्दस्वरूप परमात्माका ध्यान करके शरीरका लक्ष्य छोड़ देना, समताभाव करना। 95।

प्रश्न :–द्रव्यमें पर्याय नहीं है तो फिर पर्यायको क्यों गौण कराया जाता है ?

उत्तर :–द्रव्यमें अर्थात् उसके ध्रौव्यांशमें पर्याय नहीं है, परन्तु उसका जो वर्तमान प्रकट परिणमनेवाला अंश उस अपेक्षासे तो उसमें पर्याय है। पर्याय सर्वथा है ही नहीं—ऐसा नहीं है। पर्याय है, परन्तु उसकी उपेक्षा करके, गौण करके 'नहीं है' ऐसा कहकर उसका लक्ष्य छुड़ाकर, द्रव्यका—ध्रुव स्वभावका—लक्ष्य तथा दृष्टि करानेका प्रयोजन है। इसलिए द्रव्यको—ध्रुव स्वभावको मुख्य करके, भूतार्थ कहकर उसकी दृष्टि कराई है; और पर्यायकी अपेक्षा करके, गौण करके, 'पर्याय नहीं है, असत्यार्थ है' ऐसा कहकर उसका लक्ष्य छुड़ाया है। यदि पर्याय सर्वथा ही न हो तो गौण करना भी कहाँ रहता है ? द्रव्य (ध्रौव्य) और पर्याय दो मिलकर सम्पूर्ण द्रव्य (वस्तु) वह प्रमाणज्ञानका विषय है। 96।

भाई ! एकबार हर्ष तो ला कि अहो ! मेरा आत्मा ऐसा परमात्मस्वरूप है, ज्ञानानन्दकी शक्तिसे भरपूर है; मेरे आत्माकी शक्तिका घात नहीं हो गया है। 'अरेरे ! मैं हीन हो गया, विकारी हो गया, अब मेरा क्या होगा ?' ऐसे डर मत, उलझनमें न पड़, हताश न हो। एक बार स्वभावका उत्साह ला। स्वभावकी महिमा लाकर अपनी शक्तिको उछाल। 97।

शरीर तो तुझे छोड़ेगा ही, परन्तु तू शरीरको (दृष्टिमें) छोड़ उसकी बलिहारी है। यह तो शूरवीरके खेल हैं। 98।

अहाहा ! सारी दुनियाका विस्मरण हो जाये ऐसा तेरा परमात्मतत्त्व है। अरेरे ! तीन लोकका नाथ होकर रागमें मैला हो गया ! रागमें तो दुःखकी ज्वाला जलती है, वहाँसे दृष्टिको हटा ले ! और जहाँ सुखका सागर भरा है वहाँ अपनी दृष्टिको लगा दे ! रागको तू भूल जा ! तेरे परमात्मतत्त्वको पर्याय स्वीकारती है, परन्तु उस पर्यायरूप मैं हूँ यह भी भूल जा ! अविनाशी भगवानके पास क्षणिक पर्यायका क्या मूल्य ? पर्यायको भूलनेकी बात है वहाँ राग और शरीरकी

बात कहाँ रही ? अहाहा ! एक बार तो मुरदे भी खड़े हो जायें ऐसी यह बात है, अर्थात् सुनते ही उछलकर अन्तरमें जाये ऐसी बात है। 99।

वास्तवमें तो एक स्वयं ही है और दूसरी वस्तु है ही नहीं। मैं ही एक हूँ, मेरे हिसाबसे दूसरी वस्तु है ही नहीं। केवली हों, सिद्ध हों। वे उनके हिसाबसे भले हों, परन्तु मेरे हिसाबसे वे नहीं है। स्वभावकी अपेक्षासे राग भी अपना नहीं है। शरीर-धन-स्त्री-पुत्रादि तो मेरे है ही नहीं, परन्तु राग भी मेरा नहीं है। ज्ञानस्वरूप अकेला मैं ही हूँ—ऐसा जोर आना चाहिए।

प्रश्न :—मैं ज्ञाता ही हूँ ऐसा जोर नहीं आता वह कैसे आये ?

उत्तर :—जोर स्वयं नहीं लगाता इसलिए नहीं आता। बाहरके—संसारके प्रसंगोंमें कितनी रुचि और उत्साह आता है ? उसीप्रकार अन्तरमें अपने स्वभावकी रुचि तथा उत्साह आना चाहिए। 100।

जो जीव धर्म करना चाहता है उसे धर्म करके अपनेमें स्थिर रखना है, स्वयं जहाँ रहे वहाँ धर्म भी साथ ही रहे ऐसा धर्म करना है। धर्म यदि बाह्य पदार्थोंसे होता हो तो वे बाह्य पदार्थ चले जाने पर धर्म भी चला जायेगा। इसलिए धर्म ऐसा नहीं होता। धर्म तो अन्तरमें आत्माके ही आश्रयसे होता है, आत्माके सिवा किसी बाह्य पदार्थके आश्रयसे आत्माका धर्म नहीं होता। लोग भगवानके दर्शन करने जाते हैं वहाँ ऐसा मान लेते हैं कि 'हम धर्म कर आये'; मानों भगवानके पास उनका धर्म हो ! अरे भाई ! यदि बाह्यमें भगवानके दर्शन करेगा उतने समय तक धर्म रहेगा और वहाँसे चले जाने पर तेरा धर्म भी चला जायेगा, अर्थात् मन्दिरके सिवा घरमें तो किसीको धर्म होगा ही नहीं ! जैसे भगवान वीतराग है वैसा ही स्वभावतः मैं भगवान हूँ—ऐसी प्रतीति करके अन्तरमें चैतन्यमूर्ति निज भगवानका सम्यग्दर्शन करे तो उस अपने भगवानके दर्शनसे धर्म होता है, और वह भगवान तो स्वयं जहाँ-जहाँ जायेगा वहाँ साथ ही है इसलिए वह

धर्म भी सदैव बना ही रहता है। यदि एकबार भी ऐसे भगवानके दर्शन करे तो जन्म-मरणका अन्त आ जाए। 101।

सम्यग्दर्शन किसीके कहने या देनेसे नहीं मिलता। आत्मा स्वयं अनन्तगुणोंका पिण्ड—सर्वज्ञ भगवानने जैसा कहा वैसा—है उसे सर्वज्ञके न्यायानुसार सत्समागम द्वारा बराबर पहिचाने और अन्तरमें अखण्ड ध्रुव ज्ञायकस्वभावका अभेद निश्चय करे वही सम्यग्दर्शन—आत्मसाक्षात्कार है। उसमें किसी परवस्तुकी आवश्यकता नहीं होती। इतना पुण्य करुँ, शुभराग करूँ, उससे धीरे-धीरे सम्यग्दर्शन होगा—यह बात मिथ्या है। कोई बाह्य क्रिया करे, जाप करे, हठयोग करे, तो उससे उसे कदापि सहज चैतन्यमय शुद्धात्मस्वभाव प्रकट नहीं होगा, धर्म नहीं होगा; धर्म तो आत्माका सहज सुखदायक स्वभाव है। 102।

अहो ! अडोल दिगम्बरवृत्तिको धारण करनेवाले, वनमें बसनेवाले और चिदानन्दस्वरूप आत्मामें डोलनेवाले मुनिवर, जो कि छठवें-सातवें गुणस्थानमें आत्माके अमृतकुण्डमें निमग्न हुए झूलते हैं, उनका अवतार सफल है। ऐसे सन्त-मुनिवर भी वैराग्यकी बारह भावनाएँ भाते हुए वस्तुस्वरूपका चिंतवन करते हैं। अहा ! तीर्थंकर भी दीक्षासे पूर्व जिनका चिंतवन करते हैं ऐसी वैराग्यरसभरी यह बारह भावनाएँ भाते हुए किस भव्यको आनन्द नहीं होगा ? और किस भव्यको मोक्षमार्गका उत्साह नहीं जागेगा ? 103।

श्री अरिहन्तदेव और उनके शास्त्र ऐसा कहते हैं कि—प्रभु ! तू ज्ञानमात्र है, वहाँ प्रीति कर और हमारे प्रति भी प्रीति छोड़ दे। तेरा भगवान तो भीतर शीतल-शीतल चैतन्यचन्द्र, जिनचन्द्र है; वहाँ प्रीति कर। आकाशमें जो चन्द्र है वह शीतल होता है किन्तु वह तो जड़की शीतलता जडरूप है। इस शान्त-शान्त-शान्त चैतन्यचन्द्रकी शीतलता तो अतीन्द्रिय शान्तिमय है, वह एकमात्र शान्तिका पिण्ड है। उसे शान्तिका पिण्ड कहो या ज्ञानका पिण्ड

कहो—दोनों एक ही है। इसलिए जितना यह ज्ञान है उतना ही परमार्थ आत्मा है ऐसा निश्चय करके उसीमें प्रीतिवन्त बन। 104।

अहो ! यह तो वीतरागशासन है। रागसे धर्म होता है और व्यवहार करते-करते निश्चय प्रकट होता है यह सब वीतरागमार्ग नहीं है। भगवान आत्मा वीतरागस्वरूप है और उसके आश्रयसे जो वीतराग दशा होती है वही धर्म है . शुभराग हो या अशुभ—दोनों परके आश्रयसे होते हैं, स्वयं अपवित्र और दुःखरूप हैं; इसलिए वे धर्म नहीं है। रागसे भिन्न होने पर तो भीतर आत्मामें प्रवेश होता है, तो फिर उससे लाभ हो यह कैसे हो सकता है ? भाई ! मार्ग कठिन है। व्यवहारसे निश्चय कदापि नहीं होता और निमित्तसे उपादानमें कदापि कार्य नहीं होता। ऐसा ही वस्तुस्वरूप है। 105।

दृष्टिका विषय द्रव्यस्वभाव है, उसमें तो अशुद्धताकी उत्पत्ति है ही नहीं। सम्यक्त्वीको एक भी अपेक्षासे अनन्त संसारका कारण ऐसे मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी कषायका बन्ध नहीं है; परन्तु उस परसे कोई ऐसा ही मान ले कि उसको किंचित् भी विभाव तथा बन्ध नहीं है, तो वह एकान्त है। अन्तरमें शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि तथा अनुभव होने पर भी अभी आसक्ति है वह दुःखरूप लगती है। रुचि एवं दृष्टि-अपेक्षासे भगवान आत्मा तो अमृतस्वरूप आनन्दरा सागर है, उसके आंशिक वेदनके पास शुभ और अशुभ दोनों राग दुःखरूप लगते हैं, अभिप्रायमें विष और काले नाग जैसे लगते हैं। 106।

जीव अकेला आया है, अकेला रहता है और अकेला जाता है; वह अकेला ही है, उसे जगत्के साथ क्या सम्बन्ध है ? भाई ! इस शरीरके रजकण यहीँ पड़े रहेंगे और यह महल-मकान भी सब पड़े रहेंगे इनमेंकी कोई वस्तु तेरे स्वरूपमें नहीं है, वे सब जीव स्वरूपसे भिन्न हैं।

प्रभु ! तू उनके मोहपाशमेंसे छूट जा। अब लूटा जाना रहने दे। तू अपने एकत्वविभक्तपनेको प्राप्त करके अकेला निजानन्दका उपभोग कर। 107।

जैनधर्मकी महत्ता यह है कि मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि शुद्ध भावकी प्राप्ति उसीमें होती है। उसीमें जैनधर्मकी श्रेष्ठता है इसलिए हे जीव ! ऐसे शुद्धभाव द्वारा ही जैनधर्मकी महिमा जानकर तू उसे अंगीकार कर, और रागको—पुण्यको धर्म न मान। जैनधर्ममें तो सर्वज्ञ भगवानने ऐसा कहा है कि जो पुण्यको धर्म मानता है वह मात्र भोगकी ही इच्छा रखता है, क्योंकि पुण्यके फलमें तो स्वर्गादिके भोगोंकी ही प्राप्ति होती हैं; इसलिए जिसे पुण्यकी भावना है उसे भोगकी ही अर्थात् संसारकी ही भावना है, किन्तु मोक्षकी भावना नहीं है। 108।

जिसने पर्यायदृष्टि हटा दी और द्रव्यदृष्टि प्रगट की वह दूसरेको भी द्रव्यदृष्टिसे पूर्णानन्द प्रभु ही देखता है। पर्यायका ज्ञान करे, परन्तु आदरणीयरूपमें—दृष्टिके आश्रयरूपमें—तो उसको त्रैकालिक ध्रुव शुद्ध द्रव्य ही है। 109।

परमपारिणामिक भाव हूँ, कारणपरमात्मा हूँ, कारणजीव हूँ, शुद्धोपयोगोऽहं, निर्विकल्पोऽहं। 110।

एक ओर विकारकी धारा अनादिसे है और दूसरी ओर स्वभावसामर्थ्यकी धारा भी अनादिसे साथ ही चल रही है; विकारकी धाराके समय स्वभावसामर्थ्यकी धारा कहीं टूट नहीं गई, स्वभावसामर्थ्यका कहीं अभाव नहीं हुआ। परिणति जहाँ स्वभावसामर्थ्यकी ओर झुकी वहीं विकारकी परम्पराका प्रवाह टूट गया और अध्यात्मपरिणतिकी परम्परा शुरू हो गई, जो पूर्ण होकर सादिअनन्तकाल रहेगी। 111।

परके लिए तो एक बार मृतकवत् हो जाना चाहिए। परमें तेरा कोई अधिकार ही नहीं है। अरे भाई ! तू रागको तथा रजकणको नहीं कर सकता ऐसा ज्ञाताद्रष्टा पदार्थ है। ऐसे ज्ञाताद्रष्टास्वभावकी दृष्टि कर। चारों ओरसे उपयोगको समेटकर एक आत्मामें ही जा। 112।

कर्मका विपाक वह कारण और रागादि भावोंका होना वह कार्य—ऐसा नहीं है, परन्तु अज्ञानभावसे आत्मा स्वयं शुभाशुभ रागका कर्ता हुआ और शुभाशुभ राग कार्य हुआ। इसप्रकार जड़कर्मका अभाव हुआ इसलिए मोक्षदशारूप कार्य प्रकट हुआ—ऐसा नहीं है, परन्तु ज्ञानभावसे मोक्षकी निर्मल पर्यायका कर्ता आत्मा है और मोक्षकी निर्मल पर्याय प्रकट हुई वह आत्माका कार्य है। 113।

ध्रुवका मूल्य अधिक है। आनन्दकी पर्याय तो एक समयकी है और ध्रुवमें तो आनन्दके ढेर भरे हैं। 114।

अहो ! इस मनुष्यपनेमें ऐसे परमात्मस्वरूपका आदर करना वह जीवनका कोई धन्य क्षण है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञायक ही है, यह उसके ख्यालमें आ जाए, किसी भी प्रसंगमें मैं ज्ञायक हूँ....ज्ञायक हूँ ऐसा भासित हो, ज्ञायकका लक्ष्य रहे, तो उस ओर ढलता ही रहे। 115।

सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहा गया सत्य सुनना चाहता हो तो जैसे परमात्मा पूर्ण पवित्र है वैसा ही तू भी है उसकी 'हाँ' कह; 'ना' नहीं कहना। 'हाँ'मेंसे 'हाँ' आयेगी; पूर्णका आदर करनेवाला पूर्ण हो जाएगा। 116।

देवाधिदेव सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवानका प्रवचन निर्दोष होता है। सहज वाणी खिरती है, 'उपदेश दूँ' ऐसी भी इच्छा नहीं होती। मेघकी गर्जना जिसप्रकार सहज होती है उसीप्रकार 'ॐ' ध्वनि भी सहज छूटती है। वह गणधरदेव द्वारा द्वादशांग सूत्ररूपमें रची जाती है। उसे जिनागम अर्थात् जिनप्रवचन कहा जाता है। 117।

अध्यात्मशास्त्रके भाव कोई चाहे जिसके पाससे सुन ले अथवा अपने आप पढ़ ले तो स्वच्छन्दसे अपूर्व आत्मबोध नहीं होता। गुरुगमरूपसे एकबार ज्ञानीके पास साक्षात्–सीधा श्रवण करना चाहिए। 'दीपसे दीप जलता है।' सत् झेलनेके लिए अपना उपादान तैयार हो वहाँ ज्ञानीके निमित्तपनेका योग सहज होता ही है। श्रीमद् ने कहा है कि—

बूझी चहत जो प्यासको, है बूझनकी रीत;
पावे नहि गुरुगम बिना, यही अनादि स्थित। —118।

अनेक जीवोंको अन्तरसे सत् समझनेकी उत्कण्ठा हो, तब संसारमेंसे उन्नतिक्रममें अग्रसर कोई ज्ञानी तीर्थंकररूपसे जन्म लेते हैं। उनके निमित्तसे जो योग्य जीव हों वे सत्यको समझ लें—ऐसा मेल सहज ही हो जाता है , तीर्थंकर किसी दूसरेके लिए अवतार नहीं लेते। 119।

शुद्धता और अशुद्धता दोनों होने पर भी यदि शुद्धभाव पर दृष्टि न करे तो अशुद्धताको जानेगा कौन ? उपादान और निमित्त दोनों होने पर भी उपादानकी ओर झुके बिना निमित्तका यथार्थ ज्ञान कौन करेगा ? शुद्धस्वभाव और राग, अथवा निश्चय और व्यवहार—दोनों होने पर भी, निश्चय द्रव्यस्वभावकी ओर दृष्टि किये बिना व्यवहार कहेगा कौन ? निर्मल ज्ञायकस्वभावकी सन्मुखताके बिना स्व-परको जाननेका विवेक विकसित नहीं होगा। अभेद स्वभावकी ओर ढलना ही अनेकान्तका प्रयोजन है। 120।

अनेक लोग मानते हैं कि आत्मा तो बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करे किन्तु कर्मका नाश हो अथवा न भी हो; परन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा पुरुषार्थ करे और कर्मका नाश न हो ऐसा हो ही नहीं सकता; और आत्माने पुरुषार्थ किया है इसलिए पुरुषार्थसे कर्मका नाश हुआ है—ऐसा भी नहीं है। आत्माका सम्यग्दर्शनका काल है उस समय दर्शनमोहनीयके नाश आदिका काल है, ज्ञानके विकासका काल है उस समय ज्ञानावरणीके क्षयोपशमका काल है और रागादिके अभावका काल है उस समय चारित्रमोहनीयके नाशका काल है; परन्तु कर्मके कारण वे सम्यग्दर्शनादि नहीं है और आत्माके पुरुषार्थके कारण कर्मका नाश नहीं है—ऐसा समझना। 121।

कारणपरमात्मा ही वास्तवमें नित्य आत्मा है। नित्यका निर्णय करती है अनित्य पर्याय, किन्तु उसका विषय है कारण परमात्मा; इसलिए वही वास्तवमें आत्मा है। पर्यायको अभूतार्थ कहकर, व्यवहार कहकर, अनात्मा कहा है। 122।

अरे जीवों ! शान्त हो जाओ, उपशमरसमें डूब जाओ—ऐसा उपदेश मानों भगवानकी प्रतिमा दे रही हो ! इसलिए स्थापना भी परमपूज्य है। तीन लोकमें वीतरागमुद्रायुक्त शाश्वत जिनप्रतिमाएँ हैं। जिसप्रकार लोक अनादि अकृत्रिम है, लोकमें सर्वज्ञ भी अनादिसे हैं, उसीप्रकार लोकमें सर्वज्ञकी वीतराग प्रतिमा भी अनादिसे अकृत्रिम शाश्वत है। जिन्होंने ऐसी प्रतिमाकी स्थापनाका उत्थापन किया है वे धर्मको नहीं समझे हैं। धर्मी जीवको भी भगवानके जिनबिम्बके प्रति भक्तिका भाव आता है। 123।

ज्ञानस्वभाव स्व-परप्रकाशक है। वह परको जाने सो कहीं आस्रव-बन्धका कारण नहीं है, तथापि अज्ञानी 'परका विचार करेंगे तो आस्रव-बन्ध होगा' ऐसा मानकर परके विचारसे

दूर रहना चाहता है; उसकी वह मान्यता झूठी है। हाँ, चैतन्यके ध्यानमें एकाग्र हो गया हो तो परद्रव्यका चिंतवन छूट जाये; परन्तु अज्ञानी तो 'परको जाननेवाले ज्ञानका उपयोग ही बन्धका कारण है' ऐसा मानता है। जितना अकषाय वीतरागभाव हुआ उतने संवर-निर्जरा हैं, और जितने रागादिभाव हैं उतने आस्रव-बन्ध हैं। यदि परका ज्ञान बन्धका कारण हो तो केवलीभगवान तो समस्त पदार्थओंको जानते हैं, तथापि उनको बन्धन किंचित्मात्र नहीं होता। उनको राग-द्वेष नहीं है इसलिए बन्धन नहीं है। उसीप्रकार सर्व जीवोंको ज्ञान बन्धका कारण नहीं है।124।

तत्त्वज्ञान होनेसे आत्माकी दृष्टि हुई, 'संयोगमें अनुकूलता-प्रतिकूलता है' ऐसी दृष्टि छूट गई, तथा आस्रवकी भावना छूट गई, उसको आत्मामें लीनता होनेसे इच्छाओंका जो निरोध होता है, वह तप है। 125।

आत्माको प्राप्त करनेके लिए (गुरुगमसे) शास्त्रोंका अभ्यास करना, विचार-मनन करके तत्त्वका निर्णय करना और शरीरादिसे तथा रागसे भेदज्ञान करनेका अभ्यास करना। रागादिसे भिन्नताका अभ्यास करते-करते आत्माका अनुभव होता है। 126।

प्रश्न :—आत्माकी महिमा किस प्रकार आये ?

उत्तर :—आत्मा ज्ञानस्वरूप वस्तु है, अनन्तगुणोंका पिण्ड है। वह पूर्ण ज्ञायकतत्त्व त्रिकाल अस्तिरूप है; उसका स्वरूप तथा सामर्थ्य अगाध एवं आश्चर्यकारी है। आत्मवस्तु कैसे अस्तित्ववाली तथा कैसे सामर्थ्यवाली है उसका स्वरूप रुचिपूर्वक लक्षमें ले, समझे तो उसका माहात्म्य आये, रागका तथा अल्पज्ञताका माहात्म्य छूट जाये। प्रतिक्षण जो नयी-नयी होती है ऐसी एक समयकी केवलज्ञानकी पर्याय भी तीनकाल-तीनलोकको जाननेके

सामर्थ्यवाली है तो फिर उसे धारण करनेवाले त्रैकालिक द्रव्यका सामर्थ्य कितना ?—इस प्रकार आत्माके आश्चर्यकारी स्वभावको यथार्थ लक्षमें ले तो आत्माकी महिमा आये। 127।

जिसे ज्ञानधारामें ज्ञायकका ज्ञान हुआ है उसे रागादि परज्ञेयोंका जो ज्ञान होता है वह ज्ञेयके कारण हो ऐसी पराधीनता ज्ञानको नहीं है। शुभाशुभ भावोंसे भिन्न होकर जिसे चैतन्यकी दृष्टि हुई है उसे ज्ञानकी पर्यायमें स्व-परका जो ज्ञान हुआ वह, परज्ञेय है इसलिए पर-सम्बन्धी ज्ञान हुआ है—ऐसा नहीं है; ज्ञानके स्व-परप्रकाशकपनेके कारण ज्ञान हुआ है। इसलिए रागको—ज्ञेयको जाननेपर ज्ञेयकृत ज्ञान है ऐसा नहीं है, परन्तु ज्ञानकृत ज्ञान है। 128।

स्व-प्रकाशक ज्ञानपुंज—ज्ञायक प्रभु—तो 'शुद्ध' ही है, परन्तु रागसे भिन्न होकर उपासना की जाये उसे वह 'शुद्ध' है। समस्त परद्रव्यसे भिन्न होकर स्वमें एकाग्रता करनेसे जिसको शुद्धता प्रगट होती है उसे वह 'शुद्ध' है। रागके विकल्परूप नहीं हुआ है इसलिए रागादिसे भिन्न होकर ज्ञायकका सेवन करनेपर जिसे पर्यायमें शुद्धताका अंश प्रगट हुआ उसे वह 'शुद्ध' है ऐसा प्रतीतिमें आता है; रागके प्रेमीको वह 'शुद्ध' है ऐसा प्रतीतिमें नहीं आता। 129।

अधिक बोलनेसे क्या इष्ट है ? इसलिए चुप रहना ही अच्छा है। जितना प्रयोजन हो उतने ही उत्तम वचन बोलना। शास्त्रकी ओरके अभ्यासमें भी जो अनेक विकल्प हैं उनसे कार्यसिद्धि नहीं होती। इसलिए वचनकी बकवाद् और विकल्पोंका जाल छोड़कर, विकल्पसे भिन्न ऐसी ज्ञानचेतना द्वारा शुद्ध परमात्माके अनुभवका अभ्यास करना ही इष्ट है, वही मोक्षका पंथ है, वही परमार्थ है। आत्माका जितना अनुभव है उतना ही परमार्थ है, अन्य कोई परमार्थ नहीं है अर्थात् मोक्षका कारण नहीं है। पं. बनारसीदासजीने कहा है न!—

शुद्धातम अनुभौ क्रिया, शुद्ध ज्ञान दृग दौर।
मुक्ति-पंथ साधन यहै, वागजाल सब और।।

शुद्धात्माके अनुभवरूप जो क्रिया है वही शुद्ध ज्ञान, दर्शन और चारित्र है, वही मोक्षपंथ है, वही मोक्षका साधन है। इसके सिवा सब विकल्पजाल है। जिसे ऐसे आत्माका अनुभव करना आया उसे सब आ गया। 130।

तत्त्वके आदरमें सिद्धगति है और तत्त्वके अनादरमें निगोदगति है। सिद्धगतिमें जाते हुए बीचमें एक-दो भव हों उनकी गिनती नहीं है; और निगोदमें जाते हुए बीचमें अमुक भव हों उनकी गिनती नहीं है, क्योंकि त्रसका काल थोड़ा है और निगोदका काल अनन्त है। तत्त्वके अनादरका फल निगोदगति और आदरका फल सिद्धगति है। 132।

परलक्षके बिना शुभाशुभ राग नहीं हो सकता। जितने शुभाशुभ राग हैं वे अशुद्धभाव है। शुभाशुभभावोंको अपना स्वरूप मानना, करने योग्य मानना, वह निश्चय मिथ्यात्व— अगृहीत मिथ्यात्व है। जिसने विकारको कर्तव्य माना उसने अविकारी स्वभावको नही माना। अपने स्वभावको पूर्ण अविकारीरूप मानना वह सच्ची दृष्टि है। उसके जोर बिना तीन कालमें किसीका हित नहीं हो सकता। 133।

आत्मा अचिन्त्य सामर्थ्यवान है। उसमें अनन्त गुणस्वभाव हैं। उसकी रुचि हुए बिना उपयोग परमेंसे हटकर स्वमें नहीं आ सकता। जो पापभावोंकी रुचिमें पड़े हैं उनकी तो बात ही क्या ? परन्तु पुण्यकी रुचिवाले बाह्यत्याग करें, तप करें, द्रव्यलिंग धारण करें तथापि जब तक शुभकी रुचि है तब तक उपयोग परकी ओरसे पलटकर स्वोन्मुख नहीं हो सकता। इसलिए प्रथम परकी रुचि बदलनेसे उपयोग परकी ओरसे हटकर स्वमें आ सकता है। मार्गकी यथार्थ विधिका यह क्रम है। 134।

ज्ञायकस्वभावके साथ एकता करके जो ज्ञायकभावरूप परिणमन हुआ वह मोक्षका मार्ग है। इसलिए ज्ञानी कहते हैं कि हे वत्स ! तू अपने ज्ञायकस्वभावका निर्णय करके, अपनी परिणतिको उसी ओर मोड़ दे; अपनी परोन्मुख परिणतिको स्वोन्मुख कर; स्वभावकी महिमामें ही उसे एकाग्र कर। समयसारमें आता है न—

इसमें सदा रतिवन्त बन, इसमें सदा संतुष्ट रे।
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे।।

योगसारमें भी कहा है—

ज्यों रमता मन विषयमें, त्यों जो आतमलीन;
शीघ्र लहै निर्वाणपद, धरै न देह नवीन। 135

अपने चिदानन्दस्वभावके अभिमुख होकर उसके अतीन्द्रिय आनन्दका अनुभव करना वही आत्माका सच्चा अभिनंदन है। इसके सिवा जगतके लोग मिलकर प्रशंसा करें या अभिनन्दन-पत्र दें उसमें आत्माका कोई हित नहीं है। अरे प्रभु ! तुझे अपने आत्माका सच्चा सन्मान करना ही कभी नहीं आया। अपने चैतन्यस्वरूपकी महत्ता भूलकर तू संसारमें भटका। सर्वज्ञ-परमात्माके समान शक्ति तेरे स्वभावमें विद्यमान है, उसका बहुमान करके स्वभावसन्मुख हो, और स्वभावके आनन्दका वेदन करके तू स्वयं अपने आत्माका अभिनन्दन कर; उसीमें तेरा हित है। 136।

अन्तरमें शुद्ध चैतन्यवस्तुकी प्रतीति—सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा स्वरूप-स्थिरता—चारित्र हुए हैं; वहाँ विशेष स्वरूपस्थिरता—शुद्धोपयोग न हो तो उस काल आग्रह नहीं करना चाहिए कि—अरे ! शुभभाव आयेगा तो मैं भ्रष्ट हो जाऊँगा। बीचमें शुभभाव आये वह अपवादमार्ग है। अपवाद आया इसलिए शुद्धिसे भ्रष्ट हो गया ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। शुद्धिमें

विशेष स्थिरता नहीं हो सकती इसलिए अपवाद आये बिना नहीं रहता ऐसा भी वह जानता है। अपवाद आये, तथापि उत्सर्गमें जानेकी—शुद्धोपयोगरूप होनेकी—भावना उस काल भी होती है। अपवादमें ही रहना ऐसा उसे आग्रह नहीं होता। 137।

ज्ञानीको यथार्थ द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई है; द्रव्यके अवलम्बनसे वह अन्तरमें स्वरूपस्थिरता बढ़ाता जाता है; परन्तु जब तक अपूर्ण है, पुरुषार्थ मंद है, शुद्धस्वरूपमें पूर्णतया स्थिर नहीं हो सकता, तब तक शुभ परिणाममें युक्त होता है, परन्तु उसे वह आदरणीय नहीं मानता; स्वभावमें उसकी 'नास्ति' है इसलिए दृष्टि उसका निषेध करती है। ज्ञानीको प्रतिक्षण यह भावना होती है कि इसी क्षण पूर्ण वीतराग होना बन सके तो यह शुभ परिणाम भी नहीं चाहिए, किन्तु अपूर्णताके कारण वे भाव आये बिना नहीं रहते। 138।

शुभ परिणाम भी धर्मीको आपत्तिरूप तथा भाररूप लगते हैं; उनसे भी वह छूटना ही चाहता है, परन्तु वे आये बिना नहीं रहते। वे भाव आते हैं तथापि वह स्वरूपमें स्थिरता करनेका ही उद्यमी रहता है। कभी-कभी बुद्धिपूर्वकके सर्व विकल्प छूट जाते हैं और स्वरूपमें सहज स्थिर हो जाता है उस काल सिद्ध भगवान जैसा अंशतः अनुभव करता है; परन्तु वहाँ सदा स्थिर नहीं रह सकता इसलिए शुभ परिणाममें युक्त होता है। 139।

एक नयका सर्वथा पक्ष ग्रहण करे तो वह मिथ्यात्वके साथ मिला हुआ राग है और प्रयोजनके वश एक नयको प्रधान करके उसका ग्रहण करे तो वह मिथ्यात्वसे रहित मात्र अस्थिरताका राग है। 140।

ज्ञानी तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् अपनी शक्ति तथा बाह्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव देखकर प्रतिमा या मुनिपना लेते हैं, किसीकी देखादेखी प्रतिमा धारण नहीं करते। वह सब दशा सहज होती है। 141।

अहो ! मुनिवर तो आत्माके परम आनन्दमें झूलते-झूलते मोक्षकी साधना कर रहे हैं। आत्माके अनुभवपूर्वक दिगम्बर चारित्रदशा द्वारा मोक्ष सधता है। दिगम्बर साधु माने साक्षात् मोक्षका मार्ग। वे तो छोटे सिद्ध हैं, अन्तरके चिदानन्दस्वरूपमें झूलते-झूलते बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प आनन्दका अनुभव करते हैं। पंचपरमेष्ठीकी पंक्तिमें जिनका स्थान है ऐसे मुनिराजकी महिमाका क्या कहना ! ऐसे मुनिराजके दर्शन मिलें वह भी महान आन्दकी बात है। ऐसे मुनिवरोंके तो हम दासानुदास हैं। उनके चरणोंमें हम नमन करते हैं। धन्य वह मुनिदशा ! हम भी उसकी भावना भाते हैं। 142।

शुद्ध चिदानन्दस्वरूप निज आत्माके समीप बसना उसे उपवास कहते हैं। जहाँ आहारत्यागकी भी इच्छा नहीं है, पुण्य-पापकी इच्छा नहीं है और आहारजल आदि परपदार्थोंके ओरकी वृत्तिका सहज त्याग है, उसे उपवास कहते हैं। अज्ञानीको कोई खबर नहीं है इसलिए पुण्य-पापकी वृत्ति कैसे रुके ? नहीं रुक सकती। अकषायस्वभावके भान बिना कभी उपवास नहीं हो सकता। आत्माके भान बिना आहारत्यागस्वरूप जो उपवास है उसे लंघन कहा है—

कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः।। 143

अरेरे ! शरीर तो प्रतिक्षण मृत्युके सन्मुख जा रहा है। अवसर तो चला जा रहा है। अन्तरमें सन्मुखता किये बिना कहीं शान्ति नहीं मिलेगी। ज्ञानी तो अन्तरमें निज स्वभावका ग्रहण करके मोक्षकी चाल चलते हैं; स्वयं अपनेमें मोक्षमार्गको साधते हैं।144।

आत्मा विकार स्वयं करे और दोष डाले कर्मके ऊपर, तो वह प्रमादी होकर मिथ्यादृष्टि रहता है। पं. बनारसीदासजीने कहा है कि—'दो द्रव्य मिलकर एक परिणाम नहीं करते और दो परिणाम एक द्रव्यसे नहीं होते'। इसलिए कर्मके कारण दोष होता है ऐसा नहीं मानना। 145।

संसार और पुण्य-पाप आत्माके बिना नहीं होते; जड़कर्म अथवा शरीरादिमें वे भाव नहीं हैं, इसलिए वे भाव आत्मामें होते हैं ऐसा मानना। परन्तु रागादि भावोंका निमित्त कर्मोंको ही मानकर अपनेको रागादिका अकर्ता मानता है, वह स्वयं कर्ता होने पर भी अपनेको अकर्ता मानकर, निरुद्यमी बनकर, प्रमादी रहना चाहता है इसीलिए कर्मोंको दोष देता है। परन्तु वह उसका दुःखदायक भ्रम है। 146।

यह मनुष्य-अवतार धारण करके यदि भवके अन्तकी भनक अन्तरमें जागृत नहीं की तो जीवन किस कामका ? जिसने भवसे छूटनेका उपाय नहीं किया उसके और कीड़ों-कौओंके जीवनमें क्या फर्क है ? सत्समागमसे अन्तरके उल्लासपूर्वक चिदानन्दस्वभावका श्रणव करके, उसकी प्रतीति करते ही तेरे आत्मामें भवान्तकी भनक आने लगेगी। इसलिए भाई ! सत्समागमसे भव-भ्रमणके अन्तका उपाय शीघ्र ही कर। 147।

दिगम्बर मुनिराज माने पंचपरमेष्ठीमें सम्मिलित भगवान। अहा ! श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवानने कहा है न ! कि—अरिहन्तभगवानसे लेकर हमारे गुरुपर्यंत सब विज्ञानघनमें निमग्न थे, राग और निमित्तमें तो नहीं थे किन्तु भेदमें भी नहीं थे; वे सब विज्ञानघनमें निमग्न थे। 148।

किसीने किसीको तीन कालमें ठगा नहीं है; कपटके भाव करके यह जीव स्वयं ही अपनेको ठगता है। कोई माने कि 'मैंने अमुक व्यक्तिको कैसे ठगा?' किन्तु भाई ! उसमें वह नहीं, तू ही स्वयं ठगा गया है। सामनेवालेका तो पुण्य इतना कम था कि तुझ जैसा ठग—धोखेबाज उसे मिला, परन्तु कपटके, छलप्रपंचके भाव करके तूने स्वयं अपनेको ही धोखा दिया है—ठगा है, वैसे तीन कालमें कोई किसीको ठग नही सकता। 149।

विकारी अवस्था आत्माकी पर्यायमें होती है यह बात स्वभावदृष्टिसे गौण है। स्वभावदृष्टिसे तो जितने परोन्मुखवृत्तिवाले भाव होते हैं वे सब पौद्गलिक हैं। पर्यायदृष्टिसे वह विकारी पर्याय आत्माकी है किन्तु स्वभावदृष्टिसे वह आत्माका स्वभाव नहीं है इसलिए पौद्गलिक है। 150।

ऐसा उत्तम योग फिर कब मिलेगा ? निगोदसे निकलकर त्रसपना प्राप्त करना चिन्तामणि तुल्य दुर्लभ है, तो फिर मनुष्यपना प्राप्त करना, जैनधर्मका मिलना तो महादुर्लभ है। धन-सम्पत्ति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त होना वह दुर्लभ नहीं है। ऐसा जो उत्तम योग मिला है वह अधिक काल तक नहीं रहेगा, इसलिए बिजलीकी चमकमें मोती पिरो लेने जैसा है। ऐसा सुयोग फिर कब मिलेगा ? इसलिए तू दुनियाके मान-सन्मान एवं धन-सम्पत्तिकी महिमा छोड़कर, दुनिया क्या कहेगी उसका लक्ष छोड़कर, एक बार मिथ्यात्वको छोड़नेका जीतोड़ प्रयत्न कर। 151।

जिसप्रकार लोक-व्यवहारमें ननिहालके गाँवके किसी विशेष व्यक्तिको 'मामा' कहते हैं परन्तु वह सच्चा मामा नहीं है, कथनमात्र—'कहनेका मामा'—है; उसीप्रकार जिसे आत्माकी श्रद्धा, ज्ञान एवं रमणतारूप निश्चय 'धर्म' प्रकट हुआ हो उस जीवके दया-दानादि शुभरागको 'कहेनका मामा'की भाँति व्यवहारसे 'धर्म' कहा जाता है। इसप्रकार 'धर्म'के कथनके निश्चय-व्यवहार उन दोनों पक्षको जानना उसका नाम दोनों नयोंका 'ग्रहण करना' कहा है। वहाँ

व्यवहारको अंगीकार करनेकी बात नहीं है। 'घीका घडा' कहनेसे घड़ा घीका नहीं है किन्तु मिट्टीका है; उसीप्रकार व्रतादिको धर्म कहनेसे व्रतादिके शुभपरिणाम धर्म नहीं हैं किन्तु आस्रव हैं, कथनमात्र 'धर्म' है।—ऐसा जानना उसे 'ग्रहण करना' कहा है। जहाँ व्यवहारनयकी मुख्यता सहित व्याख्यान हो वहाँ 'ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे उपचार किया है'—ऐसा जानना। दोनों नयोंके व्याख्यानोंको समान सत्यार्थ जानकर भ्रमरूप नहीं प्रवर्तना। पं. टोडरलजीने मोक्षमार्गप्रकाशकमें कहा है न !—

''प्रश्न :—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें दोनों नयोंको ग्रहण करना कहा है—वह किस प्रकार ?

उत्तर :—जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यतासे व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है' ऐसा जानना; तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यतासे व्याख्यान है, उसे 'ऐसा है नहीं, निमित्तादिकी अपेक्षासे उपचार किया है' ऐसा जानना। इसप्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। परन्तु दोनों नयोंके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर 'ऐसा भी है और ऐसा भी है' ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन द्वारा तो दोनों नयोंको ग्रहण करना नहीं कहा है।'' 152।

प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य-गुण-पर्यायसे है। जीव जीवके द्रव्य-गुण-पर्यायसे है और अजीव अजीवके द्रव्य-गुण-पर्यायसे है। इसप्रकार सभी द्रव्य परस्पर असहाय हैं; प्रत्येक द्रव्य स्वसहायी है तथा परसे असहायी है। प्रत्येक द्रव्य किसी भी परद्रव्यकी सहायता लेता भी नहीं है और कोई भी परद्रव्यको सहायता देता भी नहीं है। शास्त्रमें 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' कथन आता है, परन्तु वह कथन उपचारसे है। वह तो उस-उस प्रकारके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका ज्ञान करानेके लिए है। उस उपचारका सच्चा ज्ञान वस्तुस्वरूपकी मर्यादा समझमें आये तभी होता है, अन्यथा नहीं होता। 153।

एक जीव निगोदसे निकलकर मोक्षमार्गमें आया वह अपने चारित्रादि गुणोंकी उपादानशक्तिसे ही आया है तथा उसीप्रकार अपने भावकलंककी प्रचुरताके कारण निगोदमें रहा है। दोनों अवस्थाओंमें अपना ही स्वतन्त्र उपादान है; उसमें निमित्त—कर्म आदि—अकिंचित्कर हैं। 154।

निमित्तकी प्रधानतासे कथन तो होता है, परन्तु कार्य कभी भी निमित्तसे नहीं होता। यदि निमित्त ही उपादानका कार्य करने लगे तो निमित्त ही स्वयं उपादान बन जाये, अर्थात् निमित्त निमित्तरूपसे नहीं रहेगा, और उपादानका स्थान निमित्तने ले लिया इसलिए निमित्तसे भिन्न उपादान भी नहीं रहेगा। इसप्रकार निमित्तसे उपादानका कार्य माननेपर उपादान और निमित्त दोनों कारणोंका लोप हो जायेगा। 155।

प्रथम स्वरूपसन्मुख होकर निर्विकल्प अनुभूति हो—आनन्दका वेदन हो, तभी यथार्थ सम्यग्दर्शन हुआ कहा जाता है। उसके बिना प्रतीति यथार्थ नहीं कही जाती। प्रथम तत्त्वविचार करके दृढ निर्णय करे, पश्चात् अनुभूति होती है। तत्त्वनिर्णयमें ही जिसकी भूल हो उसको तो यथार्थ अनुभूति कहाँसे होगी ? नहीं होगी। मात्र विकल्पोंसे तत्त्वविचार करता रहे वह जीव भी सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं होता। अन्तरमें चैतन्यस्वभावकी महिमा लाकर उसकी निर्विकल्प अनुभूति करना ही सम्यग्दर्शन है। 156।

तत्त्वविचारके अभ्याससे जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। जिसे तत्त्वका विचार नहीं है वह देव-शास्त्र-गुरु तथा धर्मकी प्रतीति करता है, अनेक शास्त्रोंका अभ्यास करता है, व्रत-तप आदि करता है, तथापि सम्यक्त्वके सन्मुख नहीं है—सम्यक्त्वका अधिकारी नहीं है; और विचारवाला उसके बिना भी सम्यक्त्वका अधिकारी होता है। सम्यग्दर्शनके लिए मूल तो तत्त्वविचारका उद्यम ही है; इसलिए तत्त्वविचारकी मुख्यता है। 157।

स्वभावके सिवा अन्यत्र कहीं मिठास रह गई होगी तो मुझे वह चैतन्यकी मिठासमें नहीं आने देगी। परकी मिठास तुझे चैतन्यकी मिठासमें बाधक होगी। इसलिए हे भाई ! समझकर परकी मिठास छोड़ दे। 158।

आत्माको समझेके लिए जिसको अन्तरमें सच्ची लगन एवं उत्कण्ठा जागृत हो उसे अन्तरमें समझका मार्ग मिले बिना नहीं रहता। वह अपनी लगनके बलसे अन्तरमें मार्ग करके निज शुद्धात्मस्वरूपको प्राप्त करता ही है। 159।

व्रत-तप-जपसे आत्मप्राप्ति होगी यह मान्यता जिसप्रकार शल्य है, उसीप्रकार शास्त्राभ्याससे आत्मा प्राप्त होगा ऐसी जो मान्यता है वह भी शल्य है। आत्मवस्तुकी ओर दृष्टि करनेसे ही आत्मप्राप्ति होती है। 160।

जीव जिस समय राग-द्वेषके भाव करे उसी समय उसे उसके फलका—आकुलताका—वेदन होता है। इसलिए कर्तापना और भोक्तापना दोनों एक साथ ही हैं। लोग बाह्य दृष्टिसे देखते हैं कि इसने पाप किये हैं तो यह नरकमें कब जायेगा ? यह झूठ बोलता है तो इसकी जीभ क्यों तुरन्त नहीं कट जाती ? परन्तु भाई ! जिस समय वह हिंसा तथा झूठ आदिके भाव करता है उसी समय उसके भावमें आकुलताका वेदन होता है; आकुलताका वेदन है वह अवगुणका ही वेदन है। अपने सुखादि स्वभावका घात किया इसलिए उसी समय उसके भावमें फल मिल गया; उसी समय गुणकी शक्तिका जो परिणमन घट गया वही उसे विपरीत फल मिल गया; जो अन्तरमें फल मिलता है उसे नहीं देखता है और बाह्य फल मिलता है उसीको देखता है वह पराश्रयदृष्टिवाला है। बाहरसे फल मिलना वह व्यवहार है। बाह्य फल कभी तो दीर्घ कालमें

और कभी अल्पकालमें मिलता है, परन्तु अन्तरंग फल तो तुरन्त ही—उसी क्षण मिल जाता है। 161।

आत्मा त्रैकालिक है तो उसका धर्म भी त्रिकाल एकरूप वर्तता है। धर्मका स्वरूप तीनोंकाल एक ही है। जैनधर्म वह वस्तुस्वरूप है अर्थात् आत्माकी साधनामय शुद्धता वह जैनधर्म है। उसे कालकी मर्यादामें कैद नहीं किया जा सकता; वस्तुस्वरूपका नियम कालभेदसे नहीं बदला जा सकता। वस्तुस्वरूपका किसी काल विपरीत नहीं होता। जिसप्रकार चेतनवस्तु जड या जड़वस्तु चेतन हो जाये ऐसा किसी काल नहीं हो सकता, उसीप्रकार जो विकारीभाव है उससे धर्म हो जाये—ऐसा भी किसी काल नहीं होता। इसलिए वस्तुस्वभावस्वरूप जैनधर्मको कालकी मर्यादामें कैद नहीं किया जा सकता। 162।

सम्यग्दृष्टि जो अव्रतादिभाव हैं वे कही कर्मकी जबरदस्तीमें नहीं हुए हैं, किन्तु आत्माने स्वयं अपने आप उन्हें किया है। विकार करनेमें तथा विकारको हटानेमें आत्माकी ही प्रभुता है, दोनोंमें आत्मा स्वयं स्वतन्त्ररूपसे कर्ता है।

देखो, 'रागादिरूप परिणमित होनेमें भी आत्मा स्वयं स्वतन्त्र प्रभु है' ऐसा कहा, उसका अर्थ ऐसा कहा, उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि राग क्रमबद्धपर्यायमें भले होता रहै। अरे भाई ! क्या अकेले विकारमें ही परिणमित होनेकी आत्माकी प्रभुता कही है, या विकार तथा अविकार दोनोंमें परिणमित होनेकी ? विकार तथा अविकार दोनोंमें स्वतन्त्ररूपसे परिणमित होनेकी मेरे आत्माकी प्रभुता है—ऐसा जो निर्णय करे वह 'प्रभु' होकर निर्मलरूपसे परिणमित होता है, विकाररूप जो अल्प परिणमन होता है उसकी उसे रुचि नहीं होती। एकान्त आस्रव-बन्धरूप मलिन भावसे परिणमित हो उसने वास्तवमें आत्माकी प्रभुताको जाना ही नहीं। 163।

मोक्षमार्गमें व्यवहारका अस्तित्व है किन्तु उसका आश्रय नहीं है। साधककी पर्यायमें राग होता है परन्तु साधकपना इसके आश्रयसे नहीं है। धर्मीको भूमिकानुसार राग होता है किन्तु राग स्वयं धर्म नहीं है। धर्मीको शुभ रागरूप व्यवहार होता है किन्तु उसके आश्रयसे वे लाभ नहीं मानते। जिसके सच्चा व्यवहार है उसे व्यवहारकी रुचि है उसके सच्चा व्यवहार नहीं होता। जिसे दुःखका यथार्थ ज्ञान हो उसे अकेला दुःख नहीं होता और जिसके अकेला दुःख है उसे उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। सच्चे पुरुषार्थीको अनन्त भवकी शंका नहीं होती और अनन्त भवकी शंकावालेको सच्चा पुरुषार्थ नहीं होता। सर्वज्ञको जो पहिचानता है उसके अनन्तभव नहीं होते तथा सर्वज्ञने उसके अनन्तभव देखे नहीं है। 164।

हे जीव ! तू बाह्य विषयोंमें सुख मानकर वहीं आसक्त होता है, किन्तु 'आत्मा' भी एक विषय है उसे तू क्यों भूल जाता है ? जिसे लक्षमें लेनेसे अतीन्द्रिय आनन्दका वेदन हो ऐसे परमशान्त आनन्दस्वरूप स्व-विषयको छोड़कर दुःखदायी ऐसे पर-विषयोंमें ही तू कहाँ राच रहा है ? हे भाई ! अब अपने स्व-विषयकी ओर देख। ऐसे महान विषयको भूल न जा। मंगल, उत्तम और सुखदायी ऐसे स्व-विषयको छोड़कर अध्रुव, अशरण तथा दुःखदायी ऐसे पर-विषयको कौन आदरेगा ? इस स्व-विषयमें एकाकार होते ही तुझे ऐसा लगेगा कि 'अहो, ऐसा मेरा आत्मा।' और फिर इस स्वविषयके अतीन्द्रिय आनन्दके स्वादके पास जगतके समस्त विषय तुझे अत्यन्त तुच्छ भासित होंगे। 165।

क्रमबद्ध पर्यायका निर्णय करते हुए दृष्टि द्रव्य पर जाती है तब क्रमबद्ध पर्यायका सच्चा निर्णय होता है। पर्यायके क्रमके सामने देखनेसे क्रमबद्धका सच्चा निर्णय नहीं हो सकता, ज्ञायककी ओर ढलता है तब ज्ञायकका सच्चा निर्णय होता है, उस निर्णयमें अनन्त पुरुषार्थ आता है। ज्ञानके साथ आनन्दका स्वाद आये तब उसे सम्यग्दर्शन हुआ है। सर्वज्ञने देखा है

वैसा होगा, पर्याय क्रमबद्ध होती है, उसके निर्णयका तात्पर्य ज्ञानस्वभावपर दृष्टि करना है। आत्मा कर्ता नहीं किन्तु ज्ञाता ही है। 166।

मेरा स्वरूप निर्विकारी है, वीतराग परमात्मा जैसे हैं वैसा ही मैं हूँ—ऐसा निज शुद्ध स्वरूपका भान नहीं किया इसलिए परिभ्रमण दूर नहीं हुआ। व्रतके परिणामसे पुण्य बन्धता है, अव्रतके परिणामसे पाप बन्धता है और आत्माकी स्वभावपर्याय प्रकट करे तो मोक्षपर्याय प्रगट होती है। दया, सत्य आदि भाव पाप टालनेके बराबर हैं, किन्तु उनसे धीरे-धीरे धर्म होगा—चारित्र प्रकट होगा ऐसा माने तो वह मान्यता मिथ्या है। आत्माको समझे बिना एक भी भव कम नहीं हो सकता। 167।

परालम्बी दृष्टि वह बन्धभाव है और स्वाश्रयदृष्टि ही मुक्तिका भाव है। स्वसन्मुख दृष्टि रहनेमें ही मुक्ति है और बहिर्मुख दृष्टि होनेसे जो व्रत-दान-भक्तिके भाव आये वे सब पराश्रित होनेसे बन्धभाव हैं। वे सब शुभ परिणाम आयें वह अलग बात है, किन्तु उन्हें रखने योग्य या लाभरूप मानना वह पराश्रयदृष्टि—मिथ्यादृष्टि है। 168।

मोही मनुष्य जहाँ ऐसे मनोरथका सेवन करता है कि 'मैं कुटुम्ब तथा समाजका अगुआ बनूँ, धन, मकान तथा बालबच्चोंमें खूब बढ़ूँ और भरापूरा परिवार छोड़कर मरूँ', वहाँ गृहस्थाश्रममें रहनेवाले धर्मात्मा आत्माकी प्रतीति सहित पूर्णताके लक्षसे इन तीन प्रकारके मनोरथोंका सेवन करते हैं : (1) मैं सर्व सम्बन्धसे छूटूँ, (2) स्त्री आदि बाह्य-परिग्रह तथा विषय-कषायरूप अभ्यन्तर परिग्रहका स्वसन्मुखताके पुरुषार्थ द्वारा त्याग करके निर्ग्रंन्थ मुनि होऊँ, (3) मैं अपूर्व समाधिमरण प्राप्त करूँ। 169।

एक-एक गुणका परिणमन स्वतन्त्र सीधा नहीं होता परन्तु अनन्तगुणमय अभेद द्रव्यका परिणमन होने पर साथ ही गुणोंका परिणमन होता है। एक-एक गुण पर दृष्टि लगानेसे गुण शुद्ध परिणमित नहीं होता किन्तु द्रव्य पर दृष्टि लगानेसे अनन्तगुणोंका निर्मल परिणमन होता है। गुणभेदके ऊपरकी दृष्टि छोड़कर अनन्त गुणमय द्रव्य पर दृष्टि लगानेसे द्रव्य पर्यायमें शुद्धरूपसे परिणमित होता है। 170।

जिनवाणीमें मोक्षमार्गका कथन दो प्रकारसे है : अखण्ड आत्मस्वभावके अवलम्बनसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रकट हुआ वह सच्चा मोक्षमार्ग है और उस भूमिकामें जो महाव्रतादिका राग—विकल्प है वह मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु उसे उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है। आत्मामें वीतराग शुद्धिरूप जो निश्चय मोक्षमार्ग प्रकट हुआ वह सच्चा, अनुपचार, शुद्ध, उपादान एवं यथार्थ मोक्षमार्ग है, और उस काल वर्तनेवाले अट्ठाईस मूलगुण आदिके शुभरागको—वह सहचर तथा निमित्त होनेसे—मोक्षमार्ग कहना वह उपचार है, व्यवहार है। पं. टोडरमलजीने कहा है न !—

मोक्षमार्ग तो कहीं दो नहीं हैं, मोक्षमार्गका निरूपण दो प्रकारसे है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्गको 'मोक्षमार्ग' निरूपित किया है वह 'निश्चयमोक्षमार्ग' है, और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्गका निमित्त है अथवा सहचारी है उसे उपचारसे मोक्षमार्ग कहें वह 'व्यवहारमोक्षमार्ग' है; क्योंकि निश्चय-व्यवहारका सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार। इसलिए निरूपणकी अपेक्षासे दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना। परन्तु एक निश्चयमोक्षमार्ग है तथा एक व्यवहारमोक्षमार्ग है—इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। 171।

सम्यग्दृष्टि माने जिसे आत्माके पूर्ण स्वभावका अन्तरमें विश्वासपूर्वक आत्माका सच्चा श्रद्धान—सम्यग्दर्शन—हुआ हो। मैं ज्ञान-आन्दादि अनंत शक्तियोंसे परिपूर्ण पदार्थ हूँ—ऐसा

प्रथम विश्वास आया तब अन्तरमें आत्माका अनुभव हुआ। पूर्ण स्वभावको ग्रहण करनेसे अन्तरमें विश्वास होता है। अनादिसे जीवका विश्वास वर्तमान पर्यायमें हैं; परन्तु वह पर्याय जहाँ है वहीं पीछे गहराईमें, उसके तलमें अखण्ड पूर्ण वस्तु है; वह अनन्त अनन्त अपरिमित शक्तियोंका सागर है; उसका जिसे अन्तरमें विश्वास आये और जो अन्तर अनुभवमें उतर जाये उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। 172।

'मैं शुद्ध हूँ—शुद्ध हूँ' ऐसी धारणासे अथवा ऐसे विकल्पसे पर्यायमें आनन्दका झरना नहीं होता। पर्यायमें आनन्दका झरना न हो तब तक ज्ञान सच्चा नहीं है। आत्माका परमार्थ स्वभाव लक्षमें लेकर पर्याय उसमें अभेद होते ही पर्यायमें परम आनन्दके मोती झरते हैं। 'द्रव्यस्वभाव शुद्ध है' ऐसा जहाँ दृष्टिमें लिया वहाँ पर्यायमें भी शुद्धता हो गई। 173।

त्रैकालिक सत् चैतन्यप्रभु—तेरा ध्रुव तत्त्व—उसकी दृष्टि तूने कभी नहीं की। वर्तमान रागादिकी अथवा अल्प जानपना आदिकी जो अवस्था है, दशा है उस क्षणिक दशा पर तेरी दृष्टि है। परको अपना माने वह तो बड़ी भ्रमणा है ही; परन्तु जानने-देखनेकी वर्तमान दशा जो तेरी की हुई है, तेरी है, तुझमें है, तेरे द्रव्यका वर्तमान अंश—पर्याय है, उस पर दृष्टि—पर्यायदृष्टि—वह भी मिथ्यात्व है। वह पर्यायदृष्टि अनादिकी है। पर्यायके ओरकी दृष्टि छोड़कर तेरी दृष्टि त्रैकालिक द्रव्यस्वभाव पर कभी नहीं आयी। मिथ्यात्व एवं रागादिके दुःखसे छूटनेका—विकल्प तोड़नेका—अन्य कोई उपाय नहीं है; अन्तर त्रैकालिक ध्रुव द्रव्य-स्वभावकी—शुद्ध ज्ञायक परमभावकी—दृष्टि करना वही एक उपाय है। 174।

जिस प्रकार खीरके स्वादके सामने लाल जुआरकी रोटीका स्वाद नहीं आता, उसीप्रकार जिसने आनन्दस्वरूप निज ज्ञायक प्रभुका स्वाद लिया है उसे जगतकी किसी वस्तुमें

प्रेम नहीं आता, रस नहीं आता, एकाकारपना नहीं होता। स्वस्वभावके सिवा जितने विकल्प एवं बाह्य ज्ञेय उन सबका रस उड़ गया है। 175।

किसीको ऐसा लगे कि जंगलमें मुनिराजको अकेले-अकेले कैसे अच्छा लगता होगा ? अरे भाई! जंगलके बीच निजानन्दमें झूलते मुनिराज तो परम सुखी हैं; जगतके राग-द्वेषका शोरगुल वहाँ नहीं है। किसी परवस्तुके साथ आत्माका मिलन ही नहीं है, इसलिए परके सम्बन्ध बिना आत्मा स्वयमेव अकेला आप अपनेमें परम सुखी है। परके सम्बन्धसे आत्माको सुख हो—ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने ऐसे आत्माका अनुभव करते है और उसीको उपादेय मानते हैं। 176।

'ज्ञानस्वरूप आत्मा है' ऐसे गुणगुणीके भेदका विकल्प, आत्माका अनुभव करनेमें बीचमें आयेगा अवश्य, परन्तु उसका आश्रय सम्यग्दर्शनमें नहीं है। सम्यग्दृष्टि उस विकल्परूप व्यवहारकी शरण लेकर रुकते नहीं हैं, परन्तु उसे भी छोड़ने योग्य समझकर अन्तरमें शुद्धात्माका उस विकल्पसे भिन्न अनुभव करते हैं। ऐसा अनुभव ही वीतरागका मार्ग है। मोक्षमहलके लिए आत्मामें सम्यग्दर्शनरूपी शिलान्यास करनेकी यह बात है। समयसारमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने जैनधर्मका रहस्य बतलाते हुए कहा है न !—

व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है;
भूतार्थके आश्रित जीव सुदृष्टि निश्चय होय है।

निश्चय-व्यवहार सम्बन्धी सब विवाद सुलझ जायें और आत्माको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो ऐसे भाव इस गाथामें भरे हैं। 177।

स्वस्वभाव सन्मुख ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है। अकेला परसन्मुखज्ञान वह अज्ञान है; क्योंकि स्वस्वभावकी सम्पूर्णताके भान बिना, एक समयकी पर्यायकी अपूर्णतामें पूर्णता मानी है। इसलिए पूर्ण स्वभावको लक्ष्यमें लेकर पूर्ण साध्यको साधना। 178।

आत्माको यथार्थ समझनेके लिए प्रमाण, नय, निक्षेपरूप शुभविकल्पका व्यवहार बीचमें आये बिना नहीं रहता, परन्तु आत्माके एकत्वके अनुभवके समय वह विकल्प छूट जाता है इसलिए वह अभूतार्थ है; आत्माको सहायक नहीं है। वस्तुका अभेदरूप निर्णय करनेमें तथा उसमें एकाग्ररूपसे स्थिर होनेमें बीचमें नव तत्त्व तथा नय, प्रमाणादिके रागमिश्रित विचार आये बिना नहीं रहते; परन्तु उनसे अभेदमें नहीं पहुँचा जाता। आँगन छोड़े तब घरमें प्रवेश होता है, उसीप्रकार व्यवहाररूप आँगनको छोड़े तब स्वभावरूप घरमें प्रवेश होता है। 179।

पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी किन्हीं भी विषयोंमें आत्माका सुख नहीं है, सुख तो आत्मामें ही है—ऐसा जानकर सर्व विषयोंमेंसे सुखबुद्धि दूर हो और असंगी आत्मस्वरूपकी रुचि हो, तभी वास्तविक ब्रह्मचर्यजीवन होता है। ब्रह्मस्वरूप आत्मामें जितने अंश परिणमन—आत्मिक सुखका अनुभव—हो उतने अंशमें ब्रह्मचर्यजीवन है। जितनी ब्रह्ममें चर्या उतना परविषयोंका त्याग होता है।

जो जीव परविषयोंसे तथा परभावोंसे सुख मानता हो उस जीवको ब्रह्मचर्यजीवन नहीं होता, क्योंकि उसको विषयोंके संगकी भावना विद्यमान है।

वास्तवमें आत्मस्वभावकी रुचिके साथ ही ब्रह्मचर्यादि सर्व गुणोंके बीज पड़े हैं। इसलिए सच्चा ब्रह्मजीवन जीनेके अभिलाषी जीवोंका प्रथम कर्तव्य यह है कि—अतीन्द्रिय आनन्दसे परिपूर्ण तथा सर्व परविषयोंसे रहित ऐसे अपने आत्मस्वभावकी रुचि करें, उसका लक्ष करें, उसका अनुभव करके उसमें तन्मय होनेका प्रयत्न करें। 180।

हे मोक्षके अभिलाषी ! मोक्षका मार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप है। वह सम्यग्दर्शनादि शुद्ध भावरूप मोक्षमार्ग अन्तर्मुख प्रयत्न द्वारा सधता है ऐसा भगवानका उपदेश है। भगवानने स्वयं प्रयत्न द्वारा मोक्षमार्ग साधा है और उपदेशमें भी यही कहा है कि 'मोक्षका मार्ग प्रयत्नसाध्य है'। इसलिए तू सम्यग्दर्शनादि शुद्ध भावोंको ही मोक्षका पंथ जानकर सर्व उद्यम द्वारा उसे अंगीकार कर। हे भाई ! सम्यग्दर्शनादि शुद्ध भावोंसे रहित ऐसे द्रव्यलिंगसे तुझे क्या साध्य है ? मोक्ष तो सम्यग्दर्शन आदि शुद्ध भावोंसे ही साध्य है इसलिए उसका प्रयत्न कर। 181।

तत्त्वविचारमें चतुर एवं निर्मल चित्तवाला जीव गुणोंमें महान ऐसे सद्गुरुके चरणकमलकी सेवाके प्रसादसे अंतरमें चैतन्य परमतत्त्वका अनुभव करता है। रत्नत्रयादि गुणोंसे महान ऐसे गुरु शिष्यसे कहते हैं कि—परभावको जान, परसे भला-बुरा मानना छोड़कर, देहमें विद्यमान होनेपर भी देह तथा शुभाशुभ रागसे भिन्न निज असंग चैतन्य परमतत्त्वको अन्तरमें देख। 'यहीं मैं हूँ'—ऐसे भावभासन द्वारा चैतन्यका अनुभव होता है। श्रीगुरुके ऐसे वचन दृढ़तासे सुनकर निर्मल चित्तवाला शिष्य अन्तरमें तद्रूप परिणमित हो जाता है। ऐसी सेवा—उपासना—के प्रसादसे पात्र जीव आत्मानुभूति प्राप्त करता है।182।

द्रव्यमें गहरे उतर जा, द्रव्यके पातालमें जा। द्रव्य वह चैतन्य-वस्तु है, गहरा दहका गम्भीर गम्भीर तत्त्व है, ज्ञान-आनन्दादि अनन्त अनन्त गुणोंके पिण्डरूप अभेद एक पदार्थ है; उसमें दृष्टि लगाकर भीतर घुस जा। 'घुस जा'का अर्थ ऐसा नहीं है कि पर्याय द्रव्य हो जाती है; परन्तु पर्यायकी जाति, द्रव्यका आश्रय करनेसे, द्रव्य जैसी निर्मल हो जाती है; उसे पर्याय द्रव्यमें गहरी उतर गई—अभेद हो गई—ऐसा कहा जाता है। 183।

दुनियामें मेरा ज्ञान प्रसिद्ध हो, दुनिया मेरी प्रशंसा करे और मैं जो कहता हूँ उससे दुनिया खुश हो—ऐसा जिसे अन्तरमें अभिमानका प्रयोजन हो उसका धारणारूप ज्ञान, भले ही सच्चा हो तो भी, वास्तवमें अज्ञान है—मिथ्याज्ञान है। अलंकारिक भाषामें वर्णन करे तो अन्तरमें वस्तु प्राप्त हो जाये ऐसा नहीं है। भीतर स्वभावकी दृष्टि करे, उसका लक्ष करे, उसका आश्रय करे, उसके सन्मुख जाये, तब अतीन्द्रिय शान्ति एवं आनन्दकी प्राप्ति होती है। 184।

जैसे सिद्धभगवन्त किसीके आलम्बन बिना स्वयमेव पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दरूपसे परिणमित होनेवाले दिव्य सामर्थ्यवान देव हैं, उसीप्रकार सभी आत्माओंका स्वभाव भी ऐसा ही है। अहा ! ऐसा निरालम्बी ज्ञान एवं सुखस्वभावरूप मैं हूँ!—ऐसा लक्ष्यमें लेते ही जीवका उपयोग अतीन्द्रिय होकर उसकी पर्यायमें ज्ञान तथा आनन्द खिल जाते हैं, पूर्वमें जिसका कभी अनुभव नहीं हुआ था ऐसी चैतन्यशान्ति वेदनमें आती है;—इसप्रकार आनन्दका अगाध समुद्र उसकी प्रतीतिमें, ज्ञानमें तथा अनुभूतिमें आ जाता है; अपना परम इष्ट ऐसा सुख उसे प्राप्त होता है, और अनिष्ट ऐसा दुःख दूर होता है। 185।

अन्तरमें स्वसंवेदनज्ञान खिला वहाँ स्वयंको उसका वेदन हुआ, फिर कोई दूसरा उसे जाने या न जाने—उसकी कुछ ज्ञानीको अपेक्षा नहीं है। जिस प्रकार सुगंधित पुष्प खिलता है तो उसकी सुगन्ध अन्य कोई ले या न ले उसकी अपेक्षा उस पुष्पको नहीं है, वह तो स्वयं अपनेमें ही सुगन्धसे खिला है, उसीप्रकार धर्मात्माको अपना आनन्दमय स्वसंवेदन हुआ है वह किसी दूसरेको दिखलानेके लिए नहीं है; दूसरे जानें तो अपनेको शान्ति हो—ऐसा कुछ धर्मीको नहीं है; वह तो स्वयं अन्तरमें अकेला-अकेला अपने एकत्वमें आनन्दरूपसे परिणमित हो ही रहा है। 186।

जड़ शरीरके अंगभूत इन्द्रियाँ सो कहीं आत्माके ज्ञानकी उत्पत्तिका साधन नहीं हैं। अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावको साधन बनाकर जो ज्ञान हो, वही आत्माको जाननेवाला है। ऐसे ज्ञानकी अनुभूतिसे सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् मुमुक्षुको आत्मा सदा उपयोगस्वरूप ही ज्ञात होता है।187।

अनादि-अनन्त ऐसा जो एक निज शुद्ध चैतन्यस्वरूप उसका, स्वसन्मुख होकर आराधन करना ही परमात्मा होनेका सच्चा उपाय है। 188।

अहा ! आठ वर्षका वह छोटा-सा राजकुमार जब दीक्षा लेकर मुनि हो तब वैराग्यका वह अद्भुत दृश्य ! आनन्दमें लीनता ! मानों छोटे-से सिद्धभगवान ऊपरसे उतरे हों ! वाह रे वाह ! धन्य वह मुनिदशा !

जब वे छोटे-से मुनिराज दो-तीन दिनमें आहारके लिए निकलें तब आनन्दमें झूलते-झूलते धीरे-धीरे चले आ रहे हों, योग्य विधिका मेल मिलनेपर आहारग्रहणके लिए छोटे-छोटे दो हाथोंकी अंजलि जोड़कर खड़े हों, अहा ! वह दृश्य कैसा होगा !

पीछे तो वे आठ वर्षके मुनिराज आत्माके ध्यानमें लीन होकर केवलज्ञान प्रगट करके सिद्ध हो जायें।—ऐसी आत्माकी शक्ति है। वर्तमान भी विदेहक्षेत्रमें श्री सीमन्धरादि भगवानके पास आठ-आठ वर्षके राजकुमारोंकी दीक्षाके ऐसे प्रसंग बनते हैं। 186।

शास्त्रमें दो नयोंकी बात होती है। एक नय तो जैसा स्वरूप है वैसा ही कहता है और दूसरा नय जैसा स्वरूप हो वैसा नहीं कहता, किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे कथन करता है। आत्माका शरीर है, आत्माके कर्म है, कर्मसे विकार होता है—यह कथन व्यवहारका है; इसलिए इसे सत्य नहीं मान लेना। मोक्षमार्गप्रकाशकमें पं. टोडरमलजीने कहा है कि—

व्यवहारनयका श्रद्धान छोड़कर निश्चयनयका श्रद्धान करना योग्य है। व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको व उनके भावोंको व कारण-कार्यादिकको किसीको किसीमें मिलाकर निरूपण करता हैं; सो ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है; इसलिए उसका त्याग करना। तथा निश्चयनय उन्हींको यथावत् निरूपण करता है, किसीको किसीमें नहीं मिलाता; सो ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता हैं; इसलिए उसका श्रद्धान करना। 190।

बहुत ही अल्पकालमें जिसे संसारपरिभ्रमणसे मुक्त होना है ऐसे अति-आसन्नभव्य जीवको निज परमातमाके सिवा अन्य कुछ उपादेय नहीं है। जिसमें कर्मकी कोई अपेक्षा नहीं है ऐसा जो अपना शुद्धपरमात्मतत्त्व उसका आश्रय करनेसे सम्यग्दर्शन होता है, उसीका आश्रय करनेसे अल्पकालमें मुक्ति होती है; इसलिए मोक्षके अभिलाषी ऐसे अति-निकटभव्य जीवको अपने शुद्धात्मतत्त्वका ही आश्रय करना योग्य है, उससे भिन्न कुछ आश्रय करनेयोग्य नहीं है। इसलिए हे मोक्षार्थी जीव ! अपने शुद्धात्मतत्त्वको ही तू उपादेय कर;—वही उपादेय है ऐसी श्रद्धा कर, उसीको उपादेयरूप जान, तथा उसीको उपादेय करके उसमें स्थिर हो। ऐसा करनेसे अल्पकालमें तेरी मुक्ति होगी। 191।

देव-शास्त्र-गुरुका अपनी रुचिपूर्वक समागम होनेके पश्चात् वे जो निराली वस्तु कहना चाहते हैं उसे अपने रुचिपूर्वकके पुरुषार्थसे समझे तब पराश्रयदृष्टि छूटकर स्वाश्रयदृष्टि होती है और तब अगृहित मिथ्यात्व छूटता है। प्रथम तो देव-शास्त्र-गुरुके प्रति भक्ति-विनयका भाव होता है परन्तु व्रत-तप प्रथम नहीं होते। सत्य समझे तब देव-शास्त्र-गुरु निमित्त कहे जाते हैं, परन्तु व्रतादि सत्य समझनेमें निमित्तरूप भी नहीं हैं।

प्रथम सत्की रुचि होती है, भक्ति होती है, बहुमान होता है, पश्चात् स्वरूपको समझता है और फिर व्रत आते हैं; प्रथम मिथ्यात्व जाता है, फिर व्रत आते हैं,—वह क्रम है; परन्तु मिथ्यात्व छूटनेसे पूर्व व्रत-समितिका उपदेश वह तो क्रमभंग उपदेश है। 192।

यथार्थ तत्त्वदृष्टि होनेके पश्चात् भी ज्ञानी देव-शास्त्र-गुरुकी भक्ति आदिके शुभभावमें युक्त होते हैं, परन्तु उससे धर्म होगा ऐसा वे नहीं मानते। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् स्थिरतामें आगे बढ़ने पर व्रतादिके परिणाम आते हैं, परन्तु उनसे धर्म नहीं मानते। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी निर्मल शुद्ध पर्याय जितने-जितने अंशमें प्रगट हो उसीको धर्म मानते हैं। दया-पूजा-भक्ति आदिके शुभ परिणाम तो विकारी भाव हैं; उनसे पुण्यबन्ध होता है परन्तु धर्म नहीं होता। 193।

ज्ञातापनेके कारण निश्चयसे सम्यग्दृष्टि विरागी उदयमें आये हुए कर्मको मात्र जान ही लेता है। भोगोपभोगमें होने पर भी ज्ञानी रागकी तथा शरीरादिकी समस्त क्रियाएँ पर हैं ऐसा जानता है, स्वयं ज्ञातारूपसे परिणमित हो रहा है न ! 194।

देव-शास्त्र-गुरुकी भक्ति, पूजा, प्रभावनादिके शुभभाव जैसे ज्ञानीको होते हैं वैसे अज्ञानीको होते ही नहीं। 195।

शुभभाव अपनेमें होता है इसलिए उसे 'अभूतार्थ' नहीं कहा जाता—ऐसा नहीं है। शुभभाव अपनी पर्यायमें होनेपर भी उसके आश्रयसे हितकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिए उसे 'अभूतार्थ' कहा जाता है। अपनी पर्यायमें उसका अस्तित्व ही नहीं है—ऐसा कहीं 'अभूतार्थ'का तात्पर्य नहीं है; किन्तु उसके आश्रयसे कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि स्वभावभूत नहीं है,—ऐसा बतलाकर उसका आश्रय छुडानेके लिए उसे 'अभूतार्थ' कहा है। त्रिकाल एकरूप रहनेवाला द्रव्यस्वभाव भूतार्थ है, उसके आश्रयसे कल्याण होता है। उस भूतार्थस्वभावकी दृष्टिसे भेदरूप या रागरूप समस्त व्यवहार अभूतार्थ है। अभूतार्थ कहो या परिहरने योग्य कहो। उसका

परिहार करके सहज स्वभावको अंगीकार करनेसे घोर संसारका मूल—मिथ्यात्व—छिद् जाता है, और जीव शाश्वत परम सुखका मार्ग प्राप्त करता है। 196।

सम्यग्दृष्टि मनुष्यको अशुभ राग आता है, परन्तु अशुभ रागके कालमें आयुका बन्ध नहीं होता; क्योंकि सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर वैमानिक देवमें उत्पन्न होता है, इसलिए शुभ रागमें ही आयु बन्धती है। 197।

प्रश्न :—जिस प्रकार स्वद्रव्य आदरणीय है उसीप्रकार उसकी भावनारूप निर्मल पर्याय आदरणीय कही जाती है ?

उत्तर :–हाँ। राग हेय है उसकी अपेक्षासे निर्मल पर्यायको आदरणीय कहा जाता है; और द्रव्यकी अपेक्षासे पर्याय वह व्यवहार है, वह आश्रययोगाय नहीं होनेसे हेय कही जाती है। क्षायिक पर्याय भी द्रव्यकी अपेक्षासे हेय कही जाती है, किन्तु रागकी अपेक्षासे क्षायिक भावको आदरणीय कहा जाता है। 198।

जिज्ञासु विचारता है कि—अरेरे! पूर्वकालमें मैंने अनन्तबार बड़े-बड़े शास्त्र पढ़े, सत्समागमसे सुने और उन पर व्याख्यान किये; परन्तु शुद्ध चिद्रूप आत्माको मैंने कभी नहीं जाना, इसलिए मेरा भवपरिभ्रमण दूर नहीं हुआ। मैंने आत्माको बाहर ढूँढा परन्तु अन्तर्मुख होकर कभी अपने आत्माकी खोज नहीं की। आत्मामें ही अपनी स्वभाव साधनाका साधन होनेकी शक्ति है। इसके सिवा बाहरी शास्त्रोंमें भी ऐसी शक्ति नहीं है कि आत्मसाधनाके साधन बनें। 199।

आत्मामें अकर्तृत्वस्वभाव तो अनादि-अनंत है; वह सदैव विकारसे उपरमस्वरूप ही है; उस स्वरूपकी अपेक्षासे आत्मा विकारका कर्ता है ही नहीं। जिसने ऐसे स्वभावको स्वीकार किया उसको पर्यायमें भी मिथ्यात्वादिका अकर्तापना हो जाता है। मिथ्यात्वभाव होता है और

उसका अकर्ता है—ऐसा नहीं है, परन्तु मिथ्यात्वभाव उसको होता ही नहीं और अस्थिरताका जो अल्प राग रहता है उसका श्रद्धामें स्वीकार नहीं है, इसलिए उसका भी अकर्ता है।200।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्माकी दृष्टि अन्तरके ज्ञानानन्दस्वभाव पर है, क्षणिक रागादि पर नहीं। उसकी दृष्टिमें रागादिका अभाव होनेसे उसे (दृष्टि अपेक्षासे) संसार कहाँ रहा ? राग रहित ज्ञानानन्दस्वभाव पर दृष्टि होनेसे वह मुक्त ही है, उसकी दृष्टिमें मुक्ति हीहै; मुक्तस्वभावके ऊपरकी दृष्टिमें बन्धनका अभाव है। स्वभावके ऊपरकी दृष्टि बन्धभावको अपनेमें नहीं स्वीकारती, इसलिए स्वभावदृष्टिवंत सम्यक्त्वी मुक्त ही है। 'शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव'—शुद्ध स्वभावमें निश्चल ऐसा ज्ञानी वास्तवमें मुक्त ही है। 201।

रागादि विकार होता है वह अपनेमें होता है या परमें ? अपनेमें ही होता है। चैतन्यकी पर्यायमें विकार कहीं परवस्तु नहीं करा देती। परवस्तु विकार होनेमें निमित्त है अवश्य, परन्तु वह कहीं विकार नहीं करा देती। अकेला कोई बिगड़ता नहीं है, दो हों तब बिगड़ते हैं। दो चूड़ियाँ इकट्ठी हों तो खनकती हैं, उसीप्रकार आत्मा परवस्तु पर दृष्टि डालता है तब भूल होती है, अकेला हो तो भूल नहीं होती। जैसे कोई पुरुष परस्त्री पर दृष्टि डाले तो भूल होती है, उसीप्रकार आत्मा परवस्तु पर दृष्टि डालता है तब भूल होती। परन्तु स्वभाव पर दृष्टि डाले तो भूल नहीं होती। इसलिए परवस्तु आत्माको विकार होनेमें निमित्त है, परन्तु परवस्तु विकार नहीं करा देती। 202।

दर्शनमोह मन्द किये बिना वस्तुस्वभाव ख्यालमें नहीं आता और दर्शनमोहका अभाव किये बिना आत्मा अनुभवमें नहीं आ सकता। 203।

बाहरकी विपदा यह वास्तवमें विपदा नहीं है और बाहरकी सम्पदा वह सम्पदा नहीं है। चैतन्यका विस्मरण ही महान विपदा है और चैतन्यका स्मरण ही वास्तवमें सच्ची सम्पदा है। 204।

जहाँ चारों ओर सिंह घूम रहे हों वहाँ जैसे नींद नहीं आती, हथियार लेकर पुलिस अपनेको मारनेके लिए फिर रहा हो तो वहाँ भी जैसे नींद नहीं आती, उसीप्रकार जब तक तत्त्वनिर्णय न कर ले, तब तक आत्मार्थीको सुखसे नींद नहीं आती। 205।

अन्तरमें अतीन्द्रिय आनन्दको चुककर बाह्य इन्द्रियविषयोंमें मूर्च्छित बहिरात्मा निरन्तर दुःखी हैं और 'मेरा सुख मेरे आत्मामें ही हैं, बाह्य इन्द्रियविषयोंमें मेरा सुख नहीं है' ऐसी दृढ़ प्रतीति करके अन्तर्मुख होकर जो आत्माके अतीन्द्रिय सुखका स्वाद लेता है वह धर्मात्मा निरन्तर सुखी है। निज चैतन्यविषयको चुककर बाह्य विषयोंमें सुख-दुःखकी बुद्धिसे अज्ञानी जीव दिन-रात जल रहे हैं। अरे जीवों ! परम आनन्दसे भरपूर अपने आत्माको सम्हालो और आत्माके शान्तरसमें मग्न होओ। 206।

कोई जीव नग्न दिगम्बर मुनि हो गया हो, वस्त्रका एक ताना-बाना भी न हो, परन्तु परवस्तु मुझे लाभदायी है ऐसा अभिप्राय है, तब तक उसके अभिप्रायमेंसे तीन कालकी एक भी वस्तु छूटी नहीं है। परके साथ एकत्वबुद्धि खड़ी है, परवस्तु मुझे लाभ करती है ऐसा अभिप्राय बना हुआ है, तब तक तीन काल तीन लोकके अनन्त पदार्थ उसके भावमेंसे नहीं छूटे हैं। 207।

अरे जीव ! एक क्षण विचार तो कर, कि संयोग बढ़नेसे तेरे आत्मामें क्या बढ़ा ? अरे ! संयोगोंके बढ़नेसे आत्माकी वृद्धि मानता वह तो मनुष्यदेहको हार जाने जैसा है। भाई ! तेरे

ज्ञानस्वरूप आत्माके साथ ये संयोग एकमेक नहीं हैं; इसलिए उनसे भिन्नताकी प्रतीति कर। 208।

जिसे मोक्ष प्रिय हो उसे मोक्षका कारण प्रिय होता है, और बन्धका कारण उसे प्रिय नहीं होता। मोक्षका कारण तो आत्मस्वभावमें अन्तर्मुख झुकाव करना ही है, तथा बहिर्मुख झुकाव तो बन्धका ही कारण है; इसलिए जिसे मोक्ष प्रिय है ऐसे मोक्षार्थी जीवको अन्तर्मुख झुकावकी ही रुचि होती है, बहिर्मुख ऐसे व्यवहारभावोंकी रुचि उसे नहीं होती।

प्रथम अन्तर्मुख झुकावकी बराबर रुचि जमना चाहिए; फिर भले भूमिकानुसार व्यवहार भी हो, किन्तु धर्मीको—मोक्षार्थीको वह आदरणीय नहीं है, परंतु वह ज्ञेयरूप तथा हेयरूप है। आदर तथा रुचि तो अन्तर्मुख झुकावकी ही होनेसे, ज्यों-ज्यों वह अन्तर्मुख होता जाता है त्यों-त्यों बहिर्मुख भाव छूटते जाते हैं। इस प्रकार निश्चय-स्वभावमें अन्तर्मुख होनेपर बहिर्मुख ऐसे व्यवहारभावोंका निषेध हो जाता है।—यही मोक्षकी रीति है। 209।

पहले निर्णय करो कि इस जगतमें सर्वज्ञताको प्राप्त कोई आत्मा है या नहीं ? यदि सर्वज्ञ है तो उनको वह सर्वज्ञतारूपी कार्य किस खानमेंसे निकला है ? चैतन्यशक्तिकी खानमें सर्वज्ञतारूपी कार्यका कारण होनेकी शक्ति पड़ी है। ऐसी चैतन्यशक्तिके सन्मुख होकर सर्वज्ञताका स्वीकार करने पर उसमें अपूर्व पुरुषार्थ आता है। 'सर्वज्ञताका स्वीकार करनेसे पुरुषार्थ उड़ जाता है' यह मान्यता तो एक बहुत बड़ी भूल है। केवलज्ञान और उसके कारणकी प्रतीति करनेसे जिसको स्वसन्मुखताका अपूर्व पुरुषार्थ प्रकट होता है वह जीव निःशंक हो जाता है कि अपने आत्माके आधारसे सर्वज्ञकी प्रतीति करके मैंने मोक्षमार्गका पुरुषार्थ प्रारम्भ किया है, और सर्वज्ञके ज्ञानमें भी इसीप्रकार आया है;—मैं अल्पकालमें मोक्ष प्राप्त करनेवाला हूँ और भगवानके ज्ञानमें भी ऐसा ही आया है। 210।

जिसप्रकार घोर निद्रामें सोते हुएको आसपासकी दुनियाका भान नहीं रहता, उसीप्रकार चैतन्यकी अत्यन्त शान्तिमें स्थिर हुए मुनिवरोंको जगतके बाह्य विषयोंमें किञ्चित भी आसक्ति नहीं होती; भीतर स्वरूपकी लीनतामेंसे बाहर निकलना जरा भी अच्छा नहीं लगता; आसपास जंगलके बाघ और सिंह दहाड़ रहे हों तथापि उनसे जरा भी नहीं डरते या स्वरूपकी स्थिरतासे किञ्चित् भी चलायमान नहीं होते। अहा ! धन्य वह अद्भुत दशा ! 211।

अहा! देखो, यह परम सत्यमार्ग। वर्तमानमें भगवान सीमन्धर परमात्मा पूर्वविदेहक्षेत्रें बिराज रहे हैं, वहाँ जाकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने भगवानके पास दिव्यध्वनि सुन आये, और फिर उन्होंने इन शास्त्रोंमें परम सत्यमार्गकी स्पष्टता की है। अहा, कैसा सत्य मार्ग ! कैसा स्पष्ट मार्ग ! कैसा प्रसिद्ध मार्ग ! लेकिन वर्तमानमें लोग शास्त्रोंके नामसे भी मार्गमें बड़ी गडबड़ी पैदा कर रहे हैं। क्या किया जाये ? ऐसा ही काल है ! परन्तु सत्य मार्ग तो जो है सो ही रहेगा। शुद्धोपयोगरूप साक्षात् मोक्षमार्ग तीनों काल जयवन्त है, वही अभिनन्दनीय है। 212।

कर्मरूपसे आत्मा ही परिणमता है, कर्तारूपसे भी आत्मा स्वयं ही परिणमता है, साधनरूपसे भी स्वयं ही परिणमता है। कर्ता, कर्म, करण आदि छह कारक भिन्न-भिन्न नहीं हैं किन्तु अभेद हैं। आत्मा स्वयं अकेला ही कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान-अधिकरणरूप होता है; छह कारक तथा ऐसी अनन्त शक्तियोंरूप आत्मा स्वयं ही परिणमता है। इस प्रकार एकसाथ अनन्त शक्तियाँ ज्ञानमूर्ति आत्मामें उछल रही हैं, इसलिए वह भगवान अनेकान्तमूर्ति है। 213।

अहा ! मुनिदशा कैसी होती है उसका विचार तो करो ! छठवे-सातवें गुणस्थानमें झूलनेवाले वे मुनिस्वरूपमें गुप्त हो गये होते हैं। प्रचूर स्वसंवेदन ही मुनिका भावलिंग है, और शरीरकी नग्नता—वस्त्रपात्र रहित निर्ग्रंथ दशा—वह उनका द्रव्यलिंग है। उनको अपवाद—

व्रतादिका शुभराग आता है, किन्तु वस्त्रग्रहणका अथवा अधःकर्म तथा उद्देशिक आहार लेनेका भाव नहीं होता। अहा ! श्री ऋषभदेव भगवानको मुनिदशामें प्रथम छ महिनेके उपवास थे, फिर आहारका विकल्प उठता था, परन्तु मुनिकी विधिपूर्वक आहार नहीं मिलनेसे विकल्प तोड़कर भीतर आनन्दमें रहते थे। आनन्दमें रहना ही आत्माका कर्तव्य है। 214।

अहो ! सम्यग्दर्शन महारत्न है। शुद्ध आत्माकी निर्विकल्प प्रतीति ही सर्व रत्नोंमें महारत्न है। लौकिक रत्न तो जड़ हैं, किन्तु देहसे भिन्न शुद्धचैतन्यका भान करके जो स्वानुभवयुक्त दृढ श्रद्धा प्रकट होती है वही सम्यग्दर्शन महारत्न है। 215।

धर्मात्माको अपना रत्नत्रयस्वरूप आत्मा ही परमप्रिय है, संसार सम्बन्धी दूसरा कुछ प्रिय नहीं है। जिस प्रकार गाय को अपने बछड़ेके प्रति और बालकको अपनी माताके प्रति कैसा प्रेम होता है, उसीप्रकार धर्मात्माको अपने रत्नत्रयस्वभावरूप मोक्षमार्गके प्रति अभेदबुद्धिसे परम वात्सल्य होता है। अपनेको रत्नत्रयधर्ममें परम वात्सल्य होनेसे अन्य रत्नत्रयधर्मधारी जीवोंके प्रति भी उनको वात्सल्य उमड़े बिना नहीं रहता। 216।

स्वर्गमें रत्नोंके ढेर मिलें उसमें जीवका कुछ कल्याण नहीं है। सम्यग्दर्शनरत्न अपूर्व कल्याणकारी है, सर्व कल्याणका मूल है। उसके बिना जो भी कुछ करे वह तो सब 'राख पर लीपन'के समान व्यर्थ है। सम्यग्दृष्टि जीव लक्ष्मी-पुत्रादिके लिए शीतला माता आदि किन्हीं देवी-देवोंकी मान्यता नहीं करता। लोकमें जो मन्त्र-तन्त्र-औषधादि हैं वे तो पुण्य हो तो फल देते हैं। परन्तु यह सम्यग्दर्शन सर्व रत्नोंमें ऐसा अनुपम श्रेष्ठ रत्न है कि जिसकी महिमा देव भी करते हैं। 217।

मात्र विकल्पसे तत्त्वविचार करता रहे तो वह जीव सम्यक्त्व प्राप्त नहीं पाता। अन्तरमें चैतन्यस्वभावकी महिमा करके उसकी निर्विकल्प अनुभूति करना ही सम्यग्दर्शन है। 218।

आत्माका स्वभाव त्रैकालिक परमपारिणामिक भावरूप है; उस स्वभावको पकड़नेसे ही मुक्ति होता है। वह स्वभाव कैसे पकड़में आता है? रागादि औदयिक भावों द्वारा वह स्वभाव पकड़में नहीं आता; औदयिक भाव तो बहिर्मुख हैं और पारिणामिक स्वभाव तो अन्तर्मुख है। बहिर्मुख भाव द्वारा अन्तर्मुख भाव पकड़में नहीं आता। तथा जो अन्तर्मुखी औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिकभाव हैं उनके द्वारा वह पारिणामिक भाव यद्यपि पकड़में आता है, तथापि उन औपशमिकादि भावोंके लक्ष्यसे वह पकड़में नहीं आता। अन्तर्मुख होकर उस परम स्वभावको पकड़नेसे औपशमिकादि निर्मलभाव प्रकट होते हैं। वे भाव स्वयं कार्यरूप हैं, और परमपारिणामिक स्वभाव कारणरूप परमात्मा है। 219।

रागादिसे भिन्न चिदानन्दस्वभावका भान तथा अनुभव हुआ वहाँ धर्मीको उसकी निःसंदेह खबर पड़ती है कि अहो ! आत्माके किसी अपूर्व आनन्दका मुझे वेदन हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, आत्मामेंसे मिथ्यात्वका नाश हो गया। 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँगा या मिथ्यादृष्टि ?'—ऐसा जिसे सन्देह है वह नियमसे मिथ्यादृष्टि है। 220।

आत्मा व्यवहारसे बिगड़ा कहो तो सुधारा जा सकता है, परन्तु परमार्थसे बिगड़ा कहोगे तो सुधारा नहीं जा सकता। वास्तवमें तो आत्मा बिगड़ा नहीं है परन्तु मात्र वर्तमान पर्यायमें विकार हुआ है इसलिए सुधारा जा सकता है, विकारको हटाया जा सकता है। विकारी परिणाम सब कर्माधीन होते हैं उन्हें अपना माने, अपना स्वभाव माने, मैं उनका उत्पादक—कर्ता हूँ ऐसा माने वह अज्ञानी है; परन्तु मैं अवगुणका कर्ता नहीं हूँ, वह मेरा कर्म नहीं है उसका

मैं उत्पादक नहीं हूँ, वह मेरा नहीं है, वह मेरा स्वभाव नहीं है, ऐसा माने वह सम्यग्ज्ञानी है। 221।

जो कोई आत्मा जड़-कर्मकी अवस्थाको तथा शरीरादिकी अवस्थाको करता नहीं है, उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता, तन्मयबुद्धिसे परिणमता नहीं है परन्तु मात्र जानता है अर्थात् तटस्थ रहता हुआ—साक्षीरूपसे जानता है, वह आत्मा ज्ञानी है। 222।

विकार जीवकी ही पर्यायमें होता है उस अपेक्षासे तो उसे जीवका जानना; परन्तु जीवका स्वभाव विकारमय नहीं है, जीवका स्वभाव तो विकार रहित है। इस प्रकार स्वभावदृष्टिसे विकार जीवका नहीं है, परन्तु पुद्गलके लक्ष्यसे होता है इसलिए वह पुद्गलका है ऐसा जानना। इस प्रकार दोनों पक्ष जानकर शुद्धस्वभावमें ढलनेसे पर्यायमेंसे भी विकार हट जाता है और इसप्रकार जीव विकारका साक्षात् अकर्ता हो जाता है। इसलिए परमार्थतः जीव विकारका कर्ता नहीं है। 223।

चाहे जैसे संयोगमें, क्षेत्रमें या कालमें जो जीव स्वयं निश्चय-स्वभावका आश्रय करके परिणमता है वही जीव मोक्षमार्ग तथा मोक्षको प्राप्त होता है; और जो जीव शुद्ध स्वभावका आश्रय नहीं करता तथा पराश्रित ऐसे व्यवहारका आश्रय करता है वह जीव किसी संयोगमें, क्षेत्रमें या कालमें सम्यग्दर्शादि प्राप्त नहीं करता। तात्पर्य यह है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नही है, क्योंकि उसके अत्यागसे बन्ध नहीं होता और उसके त्यागसे बन्ध ही होता है। 224।

स्फटिकमें लाल तथा काली झलक पड़ती है उस समय भी उसका जो मूल निर्मल स्वभाव है, उसका अभाव नहीं हुआ है; यदि निर्मलताकी शक्ति न हो तो लाल-काले पुष्प दूर हो जाने पर जो निर्मलपना प्रकट होता है वह कहाँसे आया ? उसीप्रकार आत्मामें पुण्य-पापके भाव

होते हैं उस समय भी आत्माके मूल शुद्ध स्वभावका अभाव नहीं हुआ है। यदि भीतर शुद्धतारूप होनेकी शक्ति न हो तो, पुण्य-पापके परिणामोंके समय शक्तिरूप शुद्धताका नाश हो गया हो तो, पर्यायमें शुद्धता आयेगी कहाँसे? द्रव्यमें शक्तिरूपसे शुद्धता भरी है तो पर्यायमें शुद्धता प्राप्त होती है; प्राप्तमेंसे प्राप्ति होती है; जिसमें हो उसमेंसे प्रगटती है, जिसमें न हो उसमेंसे क्या प्रगटेगी ? 226।

पर लक्ष्यसे होनेवाले रागादि भाव तो परवश होनेका कारण हैं; उनसे तो कर्मबन्धन होता है और शरीर मिलता है; उनसे कहीं अशरीरी नहीं हुआ जाता। स्ववश ऐसा जो शुद्धरत्नत्रयभाव है वही कर्मबन्धन तोड़कर अशरीरी सिद्ध होनेका उपाय है। जिसे मोक्ष प्राप्त करना हो, सिद्ध होना हो, उसे तो यही अवश्य करनेयोग्य कार्य है, अर्थात् अन्तर्मुख होकर आत्माके आश्रयसे सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान तथा एकाग्रता करने योग्य है; उसके द्वारा नियमसे मुक्ति होती है। 227।

बाह्य क्रियाकाण्डमें लोगोंको रुचि हो गई है, और अन्तरकी ज्ञायकवस्तु छूट गई है। वस्तु क्या है ? उसका स्वरूप कैसा है ? इत्यादि प्रकारसे उसका मंथम होना चाहिए। वस्तुस्वरूपको समझे बिना जीवोंको सीधा धर्म करना है ! प्रतिमा धारण कर लेते हैं, हो सका तो साधु बन जाते हैं; बस, हो गया धर्म ! किन्तु भाई ! सम्यग्दर्शनके बिना प्रतिमा या साधुपना कैसा ? आत्मार्थीका श्रवण-पठन-मनन सब मुख्यतः आत्माके लिये है, सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके लिये है।228।

यह देह तो कच्ची मिट्टीके घड़े जैसा है। जिसप्रकार कच्ची मिट्टीके घड़ेको चाहे जितना धोया जाये तथापि उसमेंसे कीचड़ ही उखड़ता है, उसीप्रकार स्नानादि द्वारा देहका चाहे जितना लालन-पालन किया जाये तथापि वह तो अशुचिका ही घर है। ऐसे देहको पवित्र एक ही प्रकारसे

माना गया है। किस प्रकारसे ? तो कहते हैं :—जिस देहमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयधर्मकी आराधना की जाये उस देहको रत्नत्रयके प्रभावसे पवित्र माना जाता है; यद्यपि निश्चयसे तो रत्नत्रयकी ही पवित्रता है, परन्तु उसके निमित्तसे देहको भी व्यवहारसे पवित्र कहा जाता है। 229।

जिसे रागका रस है—वह राग भले ही भगवानकी भक्तिका हो अथवा यात्राका हो—वह भगवान आत्माके अतीन्द्रिय आनन्दरससे रिक्त है, रहित है और मिथ्यादृष्टि है; तथा जो चतुर्थगुणस्थानमें सम्यक्त्वी है, कि जिसने निज रस—आत्माके आनन्दका रस—चखा है, वह निजरससे ही रागसे विरक्त है। असंख्य प्रकारसे शुभ राग हो, परन्तु धर्मीको रागका रस नहीं होता। शुद्ध चैतन्यके अमृतमय स्वादके आगे धर्मीको रागका रस विषतुल्य भासित होता है। 230।

परकी ओर उपयोगके समय भी, धर्मीको सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक जितना वीतरागभाव हुआ है उतना धर्म तो सतत वर्तता ही है; ऐसा नहीं है कि जब स्वमें उपयोग हो तभी धर्म हो और जब परमें उपयोग हो तब धर्म हो ही नहीं। 231।

शिष्य गुरुको कहता है कि अहो प्रभु ! आपने मुझ पर परम उपकार किया है, मुझ पामरको आपने निहाल कर दिया है, आपने मुझे तार दिया है आदि। अपने गुणकी पर्याय विकसित करनेके लिए व्यवहारमें गुरुके प्रति विनय एवं नम्रता करता है, गुरुके गुणोंका बहुमान करता है; और निश्चयसे अपने पूर्ण स्वभावके प्रति विनय, नम्रता तथा बहुमान करता है। निश्चयमें अपनेको पूर्ण स्वभावका बहुमान है इसलिए व्यवहारमें देव-शास्त्र-गुरुका बहुमान आये बिना नहीं रहता। देव-गुरु गुणोंमें विशेष हैं इसलिए भीतर समझकर निमित्त पर आरोप देकर

बोलता है कि 'आपने मुझे तार दिया' वह अलग बात है, परन्तु यदि वैसा मान बैठे तो वह मिथ्या है। 232।

शुद्ध परिणाम वह आत्माका धर्म है। उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं, परन्तु व्रतादिका राग उसमें नहीं आता। यह शुद्ध रत्नत्रयरूप जो वीतरागभाव है वही सर्व शास्त्रोंका तात्पर्य है, वही जिनशासन है, वह सर्वज्ञ जिननाथकी आज्ञा है और वही वीतरागी सन्तोंका आदेश है। इसलिए उसे ही श्रेयरूप जानकर आराधना करो। 233।

हे जीव ! एक बार हर्ष तो ला कि 'अहो, मेरा आत्मा ऐसा !' कैसा ?—कि सिद्धभगवान जैसा। सिद्धभगवान जैसी ज्ञान-आनन्दकी परिपूर्ण शक्ति मेरे आत्मामें भरी पड़ी है, मेरे आत्माकी शक्ति नष्ट नहीं हो गई है। 'अरेरे ! मैं दब गया, विकारी हो गया, अब मेरा क्या होगा ?'—इस प्रकार डर मत, हताश न हो। एकबार स्वभावका हर्ष ला, स्वरूपका उत्साह प्रगट कर, उसकी महिमा लाकर अपने पुरुषार्थको उछाल, तो तुझे अपने अपूर्व आह्लादका अनुभव होगा, और तू सिद्धपदको प्राप्त करेगा। 234।

जिसने निज शुद्धात्मद्रव्यका स्वीकार करके परिणति उस ओर मोड़ दी है ऐसे धर्मात्माका अब प्रतिक्षण मुक्तिकी ओर ही प्रयाण हो रहा है, वह मुक्तिपुरीका पथिक हुआ है। 'मुझे अनन्त संसार होगा ?' ऐसी शंका अब उसे उठती ही नहीं; स्वभावके बलसे उसे ऐसी निःशंकता है कि 'अब अल्पकालमें ही मेरी मुक्तदशा खिल जायेगी'। 235।

जिसे जिसकी रुचि हो वह बारम्बार उसकी भावना भाता है, और भावनाके अनुसार भवन होता है। जैसी भावना वैसा भवन। शुद्धात्मस्वभावकी बारम्बार भावना करनेसे वैसा भवन—परिणमन हो जाता है। इसलिए जहाँ तक आत्माकी यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान और अनुभव न

हो तब तक सत्समागमसे बारम्बार प्रीतिपूर्वक उसका श्रवण मनन तथा भावना करते ही रहना। उस भावनासे ही भवका नाश होता है। 236।

अरे ! एक गाँवसे दूसरे गाँव जाना हो तब लोग रास्तेमें खानेके लिये कलेवा साथ ले जाते हैं; तो फिर यह भव छोड़कर परलोकमें जानेके लिए आत्माकी पहिचानका कुछ कलेवा लिया ? आत्मा कहीं इस भव जितना नहीं है; यह भव पूर्ण करके पीछे भी आत्मा तो अनन्तकाल अविनाशी रहनेवाला है; तो उस अनन्तकाल तक उसे सुख मिले उसके लिए कुछ उपाय तो कर। ऐसा मनुष्यभाव और सत्संगका ऐसा अवसर मिलना बहुत दुर्लभ है। आत्माकी परवाह किये बिना ऐसा अवसर चूक जायेगा तो भवभ्रमणके दुःखसे तेरा छूटकारा कब होगा ? अरे, तू तो चैतन्यराजा ! तू स्वयं आनन्दका नाथ ! भाई, तुझे ऐसे दुःख शोभा नहीं देते। जैसे अज्ञानवश राजा अपनेको भूलकर धूरेमें लोटे, उसीप्रकार तू अपने चैतन्यस्वरूपको भूलकर रागके धूरेमें लोट रहा है, परन्तु वह तेरा पद नहीं है; तेरा पद तो चैतन्यसे शोभित है, चैतन्यरत्नजड़ित तेरा पद है, उसमें राग नहीं है। ऐसे स्वरूपको जानने पर तुझे महा आनन्द होगा। 237।

योगीन्द्रदेव कहते हैं कि अरे जीव ! अब तुझे कब तक संसारमें भटकना है ? अभी तू थका नहीं ? अब तो आत्मामें आकर आत्मिक आनन्दका भोग कर ! अहाहा ! जैसे पानीकी नहर बहती हो वैसे ही यह धर्मकी नहर बह रही है। पीना आता हो तो पी। भाई ! अच्छे कालमें तो कलका लकड़हारा हो वह आज केवलज्ञान प्राप्त करता था, ऐसा वह काल था। जिस प्रकार पुण्यशालीको पग-पग पर निधान निकलें उसीप्रकार आत्मपिपासुको पर्याय-पर्यायमें आत्मामेंसे आनन्दके निधान मिलते हैं। 238।

आत्माकी बात पूर्वकालमें अनन्त बार सुनी होने पर भी, चैतन्यवस्तु जैसी महान है वैसी लक्षमें नहीं ली, उसका प्रेम नहीं किया, इसलिए श्रवणका फल नहीं आया। इसलिए उसने

आत्माकी बात सुनी ही नहीं। यथार्थमें सुनना तो उसे कहते हैं कि जैसा चैतन्यवस्तु है वैसी अनुभवमें आ जाये। 239।

धर्मात्माओंके प्रति दान तथा बहुमानका भाव आये उसमें अपनी धर्मभावनाका घोटन होता है। जिसे स्वयं धर्मका प्रेम है उसे अन्य धर्मात्माके प्रति प्रमोद, प्रेम एवं बहुमान आता है। धर्म धर्मीजीवके आधारसे है, इसलिए जिसे धर्मीजीवोंके प्रति प्रेम नहीं है उसे धर्मका ही प्रेम नहीं है। भव्य जीवोंको सहधर्मी सज्जनोंके साथ अवश्य प्रीति करना चाहिए। 240।

नरकादिके दुःखोंका वर्णन कहीं जीवोंको भयभीत करनेके लिए झूठा—कल्पित वर्णन नहीं है। परन्तु तीव्र पापके फलको भोगनेके स्थान जगतमें विद्यमान हैं। जिस प्रकार धर्मका फल मोक्ष है, पुण्यका फल स्वर्ग है, उसीप्रकार पापका फल जो नरक वह स्थान भी है। अज्ञानपूर्वक तीव्र हिंसादि पाप करनेवाले जीव ही वहाँ जाते हैं, और वहाँ उत्पन्न होते ही महादुःख पाते हैं। उनकी वेदनाका चित्कार वहाँ कौन सुने ? पहले पाप करते हुए पीछे मुडकर देखा हो, या धर्मकी परवाह की हो, तो शरण मिले न ? इसलिए हे जीव ! तू ऐसे पाप करनेसे चेत जाना। इस भवके बाद भी जीवको अन्यत्र कही जाना है—यह लक्ष्यमें रखना। आत्माका वीतराग-विज्ञान ही एक ऐसी वस्तु है कि जो तुझे यहाँ तथा परभवमें भी सुख प्रदान करे। 241।

जो वीतराग देव और निर्ग्रंथ गुरुओंको नहीं मानता, उनकी सच्ची पहिचान तथा उपासना नहीं करता, उसे तो सूर्योदय होने पर भी अन्धकार है। तथा जो वीतराग गुरुओं द्वारा प्रणित सत्शास्त्रोंका अध्ययन नहीं करता, वह आँखे होने पर भी अन्ध है। विकथा पढ़ता रहे और शास्त्रस्वाध्याय न करे उसकी आँखें किस कामकी ? ज्ञानी गुरुके पास रहकर जो शास्त्रश्रवण नहीं करता और हृदयमें उनके भावको नहीं अवधारता, वह मनुष्य वास्तवमें कान एवं मनसे रहित है

ऐसा कहा है। जिस घरमें देव-शास्त्र-गुरुकी उपासना नहीं होती वह सचमुच घर ही नहीं है, कारागृह है। 242।

अहो ! ऐसे चमत्कारी स्वभावकी बात स्वभावके लक्ष्यसे सुने तो मिथ्यात्वके छक्के छूट जायें। 243।

अपने आत्मस्वरूपकी भ्रान्ति ही सबसे महान पाप है और वही जन्म-मरणके हेतुभूत भयंकर भावरोग है। उस मिथ्याभ्रान्तिका कैसे छेदन हो ? श्रीगुरुने जैसा आत्मस्वभाव कहा है वैसा समझना तथा उसका विचार एवं ध्यान करना ही भावरोग टालनेका उपाय है। प्रथम शुभाशुभ विभाव रहित चैतन्यस्वरूप आत्मस्वभावका भान करना वही आत्मभ्रान्तिसे छूटनेका उपाय है। 244।

ज्ञानीको दुःख जाननेमें आता है और उसका वेदन भी है। जिस प्रकार आनन्दका वेदन है, उसीप्रकार जितना दुःख है उतना दुःखका भी वेदन है। 245।

चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूपसे सम्पूर्ण निरोगी है। वर्तमानमें होनेवाले पुण्य-पापादि क्षणिक विकार जितनी ही मैं हूँ ऐसा जो जीव मानता है उसका विकार-रोग दूर नहीं होता। वर्तमान क्षणिक दशा ही मलिन है, भीतर गहराईमें अर्थात् शक्तिरूपसे वर्तमानमें त्रैकालिक पूरा निर्मल हूँ—ऐसे पूर्ण निरोग स्वभाव पर जिसकी दृष्टि है उसके क्षणिक रागरूपी रोगका नाश हो जाता है। 246।

सम्यक् मतिज्ञान, सम्यक् श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदि सर्व अवस्थाएँ होती अवश्य हैं, परन्तु उन मति-श्रुतादि अवस्थाओँ पर दृष्टि लगानेसे वे मति-श्रुत या केवलादि कोई अवस्थाएँ

प्रकट नहीं होतीं, परन्तु परिपूर्ण ऐश्वर्यवान जो पूर्ण वस्तु ध्रुव निश्चय विद्यमान है उसकी दृष्टिके बलसे सम्यक् मति-श्रुत और (लीनतामें वृद्धि होने पर) पूर्ण केवलज्ञान-दशा प्रकट होती है। 247।

संयमके भेदोंमें संयमको ढूँढनेसे संयमदशा प्रगट नहीं होती, किन्तु 'मैं आत्मा तो अभेदरूपसे वीतरागस्वरूप हूँ, अनन्त गुणोंका अभेद पिण्ड हूँ' ऐसी अभेद दृष्टिके बलसे (स्थिरता बढ़ने पर) संयमादि वीतरागता प्रकट होती है। 'असंयमका त्याग करूँ तो संयम प्रकट हो' ऐसे विकल्पसे संयम प्रकट नहीं होता, किन्तु मेरा स्वभाव ही नित्य समस्वरूप है वीतरागस्वरूप है—इस प्रकार उस पर दृष्टि लगानेसे (स्थिरता होने पर) संयम प्रकट होता है। गुण-गुणीका भेद भी वस्तुदृष्टिका विषय नहीं है। वास्तवमें तो अनन्त गुणोंके अभेद पिण्डरूप जो निज वस्तु वही दृष्टिका विषय है। 248।

चन्द्र तो स्वयं सोलह कलाओंसे पूर्ण है, उसे नित्य-राहु ढँककर रहता है; राहु ज्यों-ज्यों हटता जाए त्यों-त्यों चन्द्रकी एक-एक कला विकसित होती रहती है। चन्द्रमें दूज, तीज, चौथ आदि कलाके भेद अपनेसे नहीं किन्तु राहुके निमित्तकी अपेक्षासे हैं। इसीप्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा चन्द्रके समान अखण्ड परिपूर्ण है, उसमें पाँचवें, छट्ठवें, सातवें गुणस्थानके भेदकी जो कलाएँ हैं वे अखण्ड आत्माकी अपेक्षासे नहीं हैं, किन्तु निमित्त ऐसा जो कर्मरूप राहु उसकी अपेक्षासे हैं। पुरुषार्थ द्वारा वह हटता जाता है इसलिए संयमकी कलाके भेद पड़ते हैं, परन्तु अभेद आत्माकी अपेक्षासे वे भेद नहीं पड़ते। उन कलाके भेदों पर दृष्टि न रखकर सम्पूर्ण द्रव्य पर दृष्टि रखना वही कलाओंके विकारका कारण है। 249।

नीति वह वस्त्रोंके समान है और धर्म वह गहनोंके समान है। जिस प्रकार बिना वस्त्रोंके गहने शोभा नहीं देते, उसीप्रकार बिना नीतिके धर्म शोभायमान नहीं होता। 250।

देव-शास्त्र-गुरु ऐसा कहते हैं कि भाई ! तेरी महिमा तुझे आये उसमें हमारी महिमा आ जाती है। तुझे अपनी महिमा नहीं आती तो हमारी महिमा भी वास्तवमें तुझे नहीं आयी है, हमें तूने पहिचाना नहीं है। 251।

तपकी व्याख्या 'रोटी नहीं खाना' वह नहीं, किन्तु आत्मा ज्ञानानन्दमय एक स्वतन्त्र पदार्थ है ऐसा निर्णय होनेके पश्चात् अन्तरमें एकाग्रता होने पर जो उज्ज्वलताके परिणाम होते हैं उसे भगवान तप कहते हैं और उस काल जो विकल्प होते हैं उसे व्यवहारतप कहा जाता है। आत्माकी लीनतामें विशेष उग्रता होती है वह धर्मध्यान एवं शुक्लध्यानरूप तप है। 252।

जिस ज्ञानके साथ आनन्द न आये वह ज्ञान ही नहीं है, किन्तु अज्ञान है। 253।

किसीके आशीर्वादसे किसीका भला नहीं होता, किसीके श्रापसे किसीका बुरा नहीं होता। सबके पुण्य-पापानुसार होता है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि भक्तामर-स्तोत्रका पाठ करनेसे नंगे भूखे नहीं रहेंगे; लेकिन इसका अर्थ क्या हुआ ?—कि रोटी, पानी या कपडोंकी पराधीनतासे कभी छूटकारा ही नहीं होगा। अरे भाई ! ऐसा उलटा माँगा ? इसकी अपेक्षा ऐसा भाव कर कि हे प्रभु ! आपके गुणोंका मुझे बहुमान है, आपके गुण मुझे अच्छे लगते हैं अर्थात् आत्माके गुणोंकी मुझे रुचि है, इसलिए आपकी भक्ति करता हूँ, स्तुति करता हूँ। 254।

भरत चक्रवर्ती, रामचंद्रजी, पांडव आदि धर्मात्मा संसारमें थे, परन्तु उन्हें निराले निज आत्मतत्त्वका भान था। दूसरेको सुखी-दुःखी करना, मारना—जिलाना वह आत्माके हाथमें नहीं है ऐसा वे बराबर समझते हैं तथापि अस्थिरता है इसलिए युद्धके प्रसंगमें जुड़ जाने आदिके पापभाव तथा दूसरोंको सुखी करने, जिलाने एवं भक्ति आदिके पुण्यभाव आते हैं। परन्तु

वे समझते हैं कि ये भाव पुरुषार्थकी निर्बलतासे होते हैं। स्वरूपमें लीनताका पुरुषार्थ करके, अवशिष्ट रागको टालकर मोक्षपर्याय प्रकट करेंगे—ऐसी भावनाका बल उनके निरन्तर होता है। 255।

प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, कोई किसीका कुछ कर नहीं सकता, स्वतन्त्रताकी यह बात समझनेमें मँहगी लगती है, परन्तु जितना काल संसारमें गया उतना काल मुक्ति प्रकट करनेमें नहीं चाहिए, इसलिए सत्य वह सुलभ है। यदि सत्य मँहगा हो तो मुक्ति किसकी ? इसलिए जिसे आत्महित करना हो उसे सत्य निकट ही है। 256।

'आत्मा ही आनन्दका धाम है, उसमें अन्तर्मुख होनेसे ही सुख है'—ऐसी वाणीकी झंकार जहाँ कानोंमें पड़े वहाँ आत्मार्थी जीवका आत्मा भीतरसे झनझना उठता है कि वाह ! यह भवरहित वीतरागी पुरुषकी वाणी ! आत्माके परम शान्तरसको बतलानेवाली यह वाणी वास्तवमें अद्भुत है, अश्रुतपूर्व है। वीतरागी सन्तोंकी वाणी परम अमृत है, भवरोगकी नाशक अमोघ औषधि है। 257।

जिस निज शुद्ध ज्ञायकवस्तुमें मिथ्यात्व या रागादिविभाव है ही नहीं उसमें रुचिके परिणाम तन्मय होनेसे मिथ्यात्व दूर होता है; अन्य किसी उपायसे मिथ्यात्व दूर नहीं होता। गुणभेदका विकल्प भी क्या शुद्धवस्तुमें है ?—नहीं है; तो उस शुद्धवस्तुकी प्रतीति गुणभेदके विकल्पकी अपेक्षा नहीं रखती। शुद्धवस्तुमें विकल्प नहीं हैं, और विकल्पमें शुद्धवस्तु नहीं है। दोनोंकी भिन्नता जाननेसे परिणति विकल्पोंसे हटकर स्वभावमें आयी वहाँ सम्यक्त्व हुआ और मिथ्यात्व टल गया।—यह, मिथ्यात्व टालनेकी रीति है। उसके लिए, भीतर चिदानन्दस्वभावकी अनन्त महिमा भासित होकर उसका अनन्त रस आना चाहिए, ऐसा करनेसे परिणाम उसमें तन्मय होते हैं। 258।

हे भाई ! अनन्त गुणोंके वैभवका जिसमें निवास है ऐसी चैतन्यवस्तु तू स्वयं है। अरे चैतन्य राजा ! अपने अचिन्त्य वैभवको तूने कभी जाना–देखा—अनुभव नहीं किया है, अपने स्वगृहमें तूने निवास नहीं किया है। स्वगृहको भूलकर रागादि विभावको अपना घर मानकर उसमें तू निवास कर रहा है। परन्तु श्रीगुरु तुझे निजगृहमें प्रवेश कराते हैं कि हे जीव ! तू अपने आत्माको चैतन्यस्वरूप जानकर उसकी सेवा कर ! उससे तेरा कल्याण होगा। अहा ! स्वगृहमें आनेकी उमंग किसे न होगी ? 256।

ज्ञानगुणको प्रधान करके आत्माको 'ज्ञायक' कहा जाता है। ज्ञानगुण स्वयं सविकल्प है, अर्थात् वह अपनेको तथा परको जाननेवाला है; और ज्ञानके सिवा अन्य किसी गुणमें स्व-परको जाननेका सामर्थ्य नहीं है, जिससे ज्ञानके सिवा सभी गुण निर्विकल्प हैं। 260।

तत्त्व समझनेमें, उसके विचारमें जो शुभभाव सहज ही आता है वैसे उच्च शुभभाव क्रियाकाण्डमें नहीं है। अरे! एक घण्टे तक ध्यान रखकर तत्त्वका श्रवण करे तो भी शुभभावकी टकसाल पड़े और शुभभावकी सामायिक हो जाये; तो फिर यदि चैतन्यकी जागृति लाकर निर्णय करे तो उसकी तो बात ही क्या ? तत्त्वज्ञानका विरोध न करे और ज्ञानी क्या कहना चाहते हैं उसे सुने तो उसमें, शुभ रागका जो पुण्य बन्धता है उसकी अपेक्षा, परमार्थके लक्ष सहित सुननेवालेको उत्कृष्ट पुण्यके शुभभाव हो जाते हैं; परन्तु उस पुण्यका मूल्य क्या ? पुण्यसे मात्र श्रवण करना मिलता है परन्तु उसमें अपनेको एकाकार करके सत्यका निर्णय न करे तो सब व्यर्थ है। 261।

आत्मामें कर्मकी 'नास्ति' है। दोनों स्वतन्त्र वस्तुएँ हैं। जो अपनेमें नहीं है वह अपनेको हानि नहीं पहुँचा सकता। स्वयं स्वलक्ष्यसे विकार नहीं कर सकता, परन्तु विकारमें

निमित्तरूप अन्य वस्तुकी उपस्थिति होती है। किसीकी अवस्था किसीके कारण नहीं होती। जहाँ जीवको विकारी भाव करनेकी वर्तमान योग्यता हो वहाँ निमित्तरूप होनेवाला कर्म उपस्थित ही होता है। 262।

वीतरागवाणीरूप समुद्रके मंथनसे जिसने शुद्ध चिद्रूप-रत्न प्राप्त किया है ऐसा मुमुक्षु चैतन्यप्राप्तिके परम उल्लाससे कहता है कि अहो ! मुझे सर्वोत्कृष्ट चैतन्यरत्न प्राप्त हुआ, अब मुझे चैतन्यसे अन्य दूसरा कोई कार्य नहीं है, दूसरा कोई वाच्य नहीं है, दूसरा कोई ध्येय नहीं है, दूसरा कुछ श्रवणयोग्य हीं है, अन्य कुछ प्राप्त करनेयोग्य नहीं है, अन्य कोई श्रेय नहीं है, अन्य कोई आदेय नहीं है। 263।

मोह, राग, द्वेषादिकी जो विकारी अवस्था आत्माकी पर्यायमें उत्पन्न होती है वह जड़की ही अवस्था है, क्योंकि जड़की ओरके झुकाववाला भाव है इसलिए उसे जड़का कहा है। वह भाव आत्माका स्वभाव नहीं है और उसकी उत्पत्ति मूळभूत आत्मामेंसे नहीं होती इसलिए उसे जड कहा है। 264।

हम दूसरोंका कुछ भी कर सकते हैं ऐसा माननेवाले चौरासीके अवतारमें रुलेंगे। आत्मा तो मात्र ज्ञाता-द्रष्टा है; उसीका कार्य मैं कर सकता हूँ ऐसा नहीं माना और मैं परवस्तुका कर सकता हूँ ऐसा जिसने माना उसको अपने चैतन्यकी जागृति दब गई इसलिए उस अपेक्षासे वह जड़ है। इससे कहीं ऐसा नहीं समझना कि चैतन्य मिटकर जड़द्रव्य हो जाता है। यदि आत्मा जड़ हो जाता हो तो 'तू समझ, आत्माको पहिचान' ऐसा सम्बोधन भी नहीं किया जा सकता। यह तो कई बार कहते हैं कि आबालवृद्ध, राजासे रंक—सब आत्मा प्रभु हैं, सर्व आत्मा परिपूर्ण भगवान हैं, सर्व आत्मा वर्तमानमें अनन्तगुणोंसो भरे हैं; परन्तु उसका भान न करे,

पहिचाने नहीं और जड़के कर्तव्यको अपना कर्तव्य माने, जड़के स्वरूपको अपना स्वरूप माने, उसकी दृष्टिमें उसे जड़ ही भासित होता है इसलिए उसे जड़ कहा है। 265।

ज्ञान आत्माका स्वभाव है। ज्ञानमें कालभेद नहीं है, ज्ञानका भार (बोझ) नहीं है और ज्ञानमें विकार नहीं है।

पचास वर्ष पहलेकी बात याद करना हो तो उसे याद करनेके लिए ज्ञानमें क्रम नहीं करना पड़ता। जैसे कापड़के पचास थान नीचे-ऊपर जमाये गये हों और उनमेंसे नीचेका थान निकालना हो तो ऊपरके थान हटानेके बाद ही नीचेका थान निकलेगा, वैसे ज्ञानमें पाचस वर्ष पहेलेकी बात याद करनेके लिए बीचके उनचास वर्षकी बातको याद नहीं करना पड़ता। जिस प्रकार कलकी बात याद आये उसीप्रकार पचास वर्ष पहेलेकी बात भी एकदम याद आ जाती है। इसलिए ज्ञानमें कालभेद नहीं होता; कालको खा जाये ऐसा अरूपी ज्ञानमूर्ति आत्मा है।

ज्ञान अरूपी है इसलिए वह चाहे जितना बढ़ जाए तथापि उसका भार मालूम नहीं होता। अनेक पुस्तकें पढ़ी इसलिए ज्ञानमें भार नहीं बढ़ जाता। इस प्रकार ज्ञानका भार नहीं है इसलिए वह अरूपी है।

ज्ञान शुद्ध अविकारी है; ज्ञानमें विकार नहीं है। जवानीमें काम-क्रोधादि विकारी भावोंसे भरी हुई, काले कोयले जैसी जिन्दगी बितायी हो, लेकिन फिर जब उसे ज्ञानमें याद करे तब ज्ञानके साथ वह विकार नहीं हो आता; इसलिए ज्ञान स्वयं शुद्ध अविकारी है। यदि विकारी हो तो पूर्वके विकारका ज्ञान करनेसे वह विकार भी साथमें हो आना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। आत्मा स्वयं शुद्ध-अवस्थामें रहकर विकारका ज्ञान कर सकता है। अवस्थामें परके अवलम्बनसे क्षणिक विकार होता है उसे अविकारी स्वभावके भान द्वारा सर्वथा नष्ट किया जा सकता है। जो नष्ट हो सके वह आत्माका स्वभाव नहीं हो सकता; इसलिए विकार आत्माका स्वभाव नहीं है। 266।

वीतरागी पर्याय ही निश्चय मोक्षमार्ग—सच्चा धर्म—है। देखकर चलना, मृदु वचन बोलना, वह वास्तवमें समिति नहीं है। शास्त्रमें कथन आता है कि मुनिको चार हाथ भूमि देखकर चलना आदि। तो वैसा उपदेश क्यों किया ? उसका समाधान यह है कि व्यवहारके बिना परमार्थको समझाया नहीं जा सकता। 'स्वस्ति' शब्दका अर्थ म्लेच्छ नहीं समझ सकता, परन्तु 'स्वस्ति' शब्दका अर्थ उसकी भाषामें कहें कि 'तेरा अविनाशी कल्याण होओ' तो वह जीव समझ सकता है। आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्र ऐसे भेद करके समझाते हैं परन्तु वे भेद कथनमात्र हैं; आत्मामें वास्तवमें ऐसे भेद नहीं हैं, आत्मा तो अभेद है। तथा व्यवहार अंगीकार करानेके लिए व्यवहारका कथन नहीं करते। व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश अशक्य है इसलिए व्यवहारका उपदेश है। समयसारमें श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवने कहा है कि—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं।।

जिस प्रकार अनार्यको—म्लेच्छको म्लेच्छभाषाके बिना अर्थ ग्रहण कराना शक्य नहीं है, उसीप्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश अशक्य है। इसलिए व्यवहारका उपदेश है। निश्चयको अंगीकार करानेके लिए व्यवहार द्वारा उपदेश दिया जाता है, परन्तु व्यवहार है सो अंगीकार करनेयोग्य नहीं है। 267।

आत्मा केवल ज्ञायक है; उस स्वभावका नहीं रुचना, नहीं सुहाना, उसका नाम क्रोध है। 'अखण्ड चैतन्यस्वभाव वह मैं नहीं हूँ' इस प्रकार स्वभावकी अरुचि—स्वभावका नहीं सुहाना—वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है। वस्तु अखण्ड है, सब भंग-भेद अजीवके सम्बन्धसे दिखायी देते हैं। दृष्टिमें उस अखण्ड स्वभावका पोषण न होना वह क्रोध है; परपदार्थके प्रति अहंबुद्धि वह अनन्तानुबन्धी मान है; वस्तुका स्वभाव जैसा है वैसा न मानकर, वक्रता करके दूसरी तरह मानना उसका नाम अनन्तानुबन्धी माया है; स्वभावकी भावनासे च्युत होकर विकारकी इच्छा करना वह अनन्तानुबन्धी लोभ है। 268।

भरत चक्रवर्ती और बाहुबली दोनों भाईयोंमें युद्ध हुआ। साधारण लोगोंको तो ऐसा लगे कि दोनों सम्यग्ज्ञानी, दोनों सगे भाई, तथा उसी भवमें दोनों मोक्ष जानेवाले है तो फिर यह क्या ? परन्तु युद्ध करते समय भी भान है कि मैं इस सबसे भिन्न हूँ। वे युद्धके ज्ञाता हैं। जो क्रोध होता है उस क्रोधका भी ज्ञाता हैं। अपने शुद्ध पवित्र आनन्दघनस्वभावका भान वर्तता है, परन्तु अस्थिरता होनेसे युद्धमें खड़े हैं। भरत चक्रवर्ती जीत नहीं सके इसलिए अन्तमें बाहुबलीजी पर चक्र छोड़ते हैं। उसी समय बाहुबलीजीको वैराग्य जागृत होता है कि धिक्कार है इस राज्यको ! अरे ! इस जीवनमें राज्यके लिए यह क्या ? ज्ञानी पुण्यसे भी सन्तुष्ट नहीं है और पुण्यके फलसे भी सन्तुष्ट नहीं हैं। बाहुबलीजी कहते हैं कि मैं चिदानन्द आत्मा, परसे भिन्न हूँ, उसे यह नहीं होना चाहिए, यह शोभा नहीं देता ! धिक्कार है इस राज्यको ! इस प्रकार वैराग्य आनेसे मुनिपना अंगीकार किया। बिल्ली जिस मुँहसे अपने बच्चेको पकड़ती है उसी मुँहसे चूहेको पकड़ती है, किन्तु 'पकड़ पकड़में फेर है', उसीप्रकार ज्ञानी और अज्ञानीकी क्रिया एक जैसी दिखाई देने पर भी भावोंमें बड़ा अन्तर होता है। 269।

स्त्री, पुत्र, पैसे आदिमें रचे-पचे रहना वह तो विषैला स्वाद है, सर्पकी बड़ी बाँबी है; परन्तु शुभभावमें आना वह भी संसार है। परम पुरुषार्थी महाज्ञानी अन्तरमें ऐसे विलीन हुए कि फिर बाहर नहीं आये। 270।

ज्ञानीको भी उग्र रोग आते हैं, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, बाह्यमें इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं, बाह्यमें बेहोशी जैसा लगता है, परन्तु अन्तरमें बेहोश नहीं हैं। 271।

मुनिको कर्म प्रक्रम नहीं होता—मुनि किसी कार्यका भार सिरपर नहीं लेते। 'पाठशालाका ध्यान रखना पड़ेगा; चन्दा इकट्ठा करनेके लिए तुम्हें जाना पड़ेगा; तीर्थके लिए

पैसा लाना होगा।'—ऐसे किन्हीं भी कामोंकी जिम्मेवारी मुनि अपने सिर नहीं लेते। किसी प्रकारका बोझ मुनि सिरपर नहीं रखते। 272।

संयोगका लक्ष्य छोड़ दे और निर्विकल्प एकरूप वस्तु है उसका आश्रय ले। 'वर्तमानमें त्रिकाली ज्ञायक वह मैं हूँ' ऐसा आश्रय कर। गुण-गुणीके भेदका भी लक्ष्य छोड़कर एकरूप गुणीकी दृष्टि कर। तुझे समता होगी, आनन्द होगा, दुःखका नाश होगा। एक चैतन्यवस्तु ध्रुव है, उसमें दृष्टि लगानेसे तुझे मुक्तिका मार्ग प्रकट होगा। अभेद वस्तु कि जिसमें गुण-गुणीके भेदका भी अभाव है वहाँ जा, तुझे धर्म होगा, रागसे तथा दुःखसे छूटनेका मार्ग तुझे हाथ लगेगा। 273।

पं. भागचन्दजी कृत 'सत्ता स्वरूप'में अर्हंतका स्वरूप जानकर गृहीत मिथ्यात्व टालनेका स्वरूप बड़ी अच्छी तरह समझाया है। परमार्थतत्त्वके विरोधी ऐसे कुदेव तथा कुशास्त्रको अच्छा मानना वह गृहीत मिथ्यात्व है। मैं परका कर्ता हूँ, (कर्मसे) बाधित हूँ, परसे भिन्न—स्वतंत्र नहीं हूँ, शुभरागसे मुझे गुण होता है—ऐसी जो विपरीत मान्यता अनादिसे है वह अगृहीत मिथ्यात्व अथवा निश्चयमिथ्यात्व है। उस निश्चयमिथ्यात्वको हटानेसे पूर्व, जो गृहीत मिथ्यात्व अथवा व्यवहारमिथ्यात्व है उसे हटाना चाहिए। 274।

स्वानुभूति होने पर जीवको कैसा साक्षात्कार होता है ? स्वानुभूति होने पर, अनाकुल-आह्लादमय, एक, समस्त ही विश्व पर तैरता विज्ञानघन परम पदार्थ—परमात्मा अनुभवमें आता है। ऐसे अनुभव बिना आत्मा सम्यक् रूपसे दृष्टिगोचर नहीं होता—श्रद्धामें नहीं आता, इसलिए स्वानुभूतिके बिना सम्यग्दर्शनका—धर्मका प्रारम्भ ही नहीं होता।

ऐसी स्वानुभूति प्राप्त करनेके लिए जीवको क्या करना ? स्वानुभूतिकी प्राप्तिके लिए ज्ञानस्वभावी आत्माका चाहे जिसप्रकार भी दृढ़ निर्णय करना। ज्ञानस्वभावी आत्माका निर्णय

दृढ़ करनेमें सहायभूत तत्त्वज्ञानका—द्रव्योंका स्वयंसिद्ध सत्पना और स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, नव तत्त्वका सच्चा स्वरूप, जीव और शरीरकी बिलकुल भिन्न-भिन्न क्रियाएँ, पुण्य और धर्मके लक्षणभेद, निश्चय-व्यवहार इत्यादि अनेक विषयोंके सच्चे बोधका—अभ्यास करना चाहिए। तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा कहे गए ऐसे अनेक प्रयोजनभूत सत्योंके अभ्यासके साथ-साथ सर्व तत्त्वज्ञानका सिरमौर—मुकुटमणि जो शुद्धद्रव्यसामान्य अर्थात् परमपारिणामिकभाव अर्थात् ज्ञायकस्वभावी शुद्धात्मद्रव्यसामान्य—जो स्वानुभूतिका आधार है, सम्यग्दर्शनका आश्रय है, मोक्षमार्गका आलम्बन है, सर्व शुद्धभावोंका नाथ है—उसकी दिव्य महिमा हृदयमें सर्वाधिकरूपसे अंकित करनेयोग्य है। उस निजशुद्धात्मद्रव्यसामान्यका आश्रय करनेसे ही अतीन्द्रिय आनन्दमय स्वानुभूति प्राप्त होती है। 275।

मैं आत्मा शुद्ध हूँ, अशुद्ध हूँ, बद्ध हूँ, मुक्त हूँ, नित्य हूँ, अनित्य हूँ, एक हूँ, अनेक हूँ इत्यादि प्रकारों द्वारा जिसने प्रथम श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञानस्वभावी निज आत्माका निर्णय किया है ऐसे जीवको, तत्त्वविचारके रागकी जो वृत्ति उठती है वह भी दुःखदायक है, आकुलतारूप है। ऐसे अनेक प्रकारके श्रुतज्ञानके भावको मर्यादामें लाता हुआ, मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ—ऐसे विचारको पुरुषार्थ द्वारा रोकता हुआ, परकी ओर झुकनेवाले उपयोगको स्वकी ओर खींचता हुआ, नयपक्षके आलम्बनसे होनेवाला जो रागका विकल्प उसे आत्माके स्वभावरसके भान द्वारा टालता हुआ, श्रुतज्ञानको भी जो आत्मसन्मुख करता है वह, उस काल अत्यन्त विकल्परहित होकर तत्काल निजरससे प्रकट होनेवाले, आदि-मध्य-अन्त रहित आत्माके परमानन्दस्वरूप अमृतरसका वेदन करता है। 276।

जीव परद्रव्यकी क्रिया तो नहीं करता, परन्तु विचारकालमें भी स्वभाव-अपेक्षासे निर्विकार रहता है, अपूर्णदशाके समय भी परिपूर्ण रहता है, सदाशुद्ध है, कृतकृत्य भगवान है। जिसप्रकार रंगित दशाके समय स्फटिकमणिके विद्यमान निर्मल स्वभावका भान हो सकता है,

उसीप्रकार विकारी, अपूर्णदशाके समय भी जीवके विद्यमान निर्विकारी, परिपूर्ण स्वभावका भान हो सकता है। ऐसे शुद्धस्वभावके अनुभव बिना मोक्षमार्गका प्रारम्भ भी नहीं होता, मुनिपना भी नरकादि दुःखोंके डरसे अथवा अन्य किसी हेतुसे पलता है। 'मैं कृतकृत्य हूँ, परिपूर्ण हूँ, सहजानन्द हूँ, मुझे कुछ नहीं चाहिये' ऐसी परम उपेक्षारूप, सहज उदासीनतारूप, स्वाभाविक तटस्थतारूप मुनिपना द्रव्यस्वभावके अनुभव बिना कदापि नहीं आता। ऐसे शुद्धद्रव्यस्वभावके—ज्ञायकस्वभावके निर्णयके पुरुषार्थके प्रति, उसकी लगनके प्रति उन्मुख होनेका प्रयास आत्मार्थियोंको—भवभ्रमणसे अकुलाये मुमुक्षुओंको—करने योग्य है। 277।

जिसे आत्माकी यथार्थ रुचि जागृत हो उसे चौबीसों घण्टे उसीका चिन्तन, मंथन और खटका रहा करता हैं, नींदमें भी वही रटन चलता रहता है। अरे ! नरकमें पड़ा हुआ नारकी बीषण वेदनामें पड़ा हो उस समय भी, पूर्वकालमें सत्का श्रवण किया हो उसका स्मरण करके, फटसे अन्तरमें उतर जाता है; उसे प्रतिकूलता बाधक नहीं होती। स्वर्गका जीव स्वर्गकी अनुकूलतामें रहा हो तथापि उसका लक्ष्य छोड़कर अन्तरमें उतर जाता है। यहाँ किंचित् प्रतिकूलता हो तो 'अरेरे ! मुझे ऐसा है और वैसा है'—ऐसा कर-करके अनन्तकाल गँवा दिया। अब उसका लक्ष्य छोड़कर अन्तरमें उतर जा न ! भाई ! इसके सिवा अन्य कोई सुखका मार्ग नहीं है। 278।

आत्मचिन्तनमें कही गुणभेदकी या रागकी मुख्यता नहीं है, विकल्पका जोर नहीं है, किन्तु ज्ञानमें परम ज्ञायकस्वभावकी किसी अचिन्त्य महिमाका जोर है, और उसीके बलसे निर्विकल्प होकर मुमुक्षु जीव आत्माको साक्षात् अनुभवमें ले लेता है; वहाँ कोई विकल्प नहीं रहते। इस प्रकार भेद-विकल्प बीचमें आते हैं तथापि स्वभावकी महिमाके बलसे मुमुक्षु जीव उसे लाँघकर स्वानुभूतिमें पहुँच जाता है। 279।

लेंडीपीपलका दाना आकारमें छोटा और स्वादमें अल्प चरपराहटवाला होने पर भी उसमें चौंसठ पहरी चरपराहटकी—पूर्ण चरपराहटकी शक्ति सदा परिपूर्ण है . इस दृष्टांतसे आत्मा भी आकारमें शरीरप्रमाण एवं भावमें अल्प होने पर भी उसमें परिपूर्ण सर्वज्ञस्वभाव, आनन्दस्वभाव भरा है। लेंडीपीपलको चौंसठ पहर तक घोंटनेसे उसकी पर्यायमें जिस प्रकार पूर्ण चरपराहट प्रगट होती है, उसीप्रकार रुचिको अन्तर्मुख मोड़कर स्वरूपका मंथन करते-करते आत्माकी पर्यायमें पूर्ण स्वरूप प्रकट हो जाता है। 280

प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। मैं भी एक स्वतन्त्र पदार्थ हूँ, कर्म मुझे रोक नहीं सकते।

प्रश्न :—महाराज ! दो जीवोंको 148 कर्मप्रकृतियों सम्बन्धी सर्व भेद-प्रभेदोंके प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभाग सभी बराबर एक समान हो तो वे जीव उत्तरवर्ती क्षणमें समान भाव करेंगे या भिन्न-भिन्न प्रकारके ?

उत्तर :—भिन्न-भिन्न प्रकारके।

प्रश्न :—दोनों जीवोंकी शक्ति तो पूर्ण है और आवरण बराबर एक समान है, तो फिर भाव भिन्न-भिन्न प्रकारके कैसे कर सकेंगे ?

उत्तर :—'अकारण पारिणामिक द्रव्य है'; अर्थात् जीव जिसका कोई कारण नहीं है ऐसे भावसे स्वतन्त्ररूपसे परिणमनेवाला द्रव्य है, इसलिए उसे अपने भाव स्वाधीनरूपसे करनेमें सचमुच कौन रोक सकता है ? वह स्वतन्त्ररूपसे अपना सब कर सकता है। 281।

जिस प्रकार चनेमें मिठासकी शक्ति भरी है, कचासके कारण वह कसैला लगता है और बोनेसे उगता है, किन्तु सेकनेसे उसका मीठा स्वाद प्रकट होता है और वह बोनेपर उगता नहीं है; उसीप्रकार आत्मामें मिठास अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्दशक्ति परिपूर्ण विद्यमान है, उस शक्तिको भूलकर 'शरीर सो मैं, रागादि सो मैं' ऐसी अज्ञानरूपी कचासके कारण उसे अपने

आनन्दका अनुभव नही है किन्तु आकुलताका अनुभव है और पुनः पुनः वह अवतार धारण करता है, परन्तु अपने स्वरूप सन्मुख होकर उसमें एकाग्रतारूप अग्नि द्वारा सेकनेसे स्वभावके अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद आता है और फिर उसे अवतार नहीं होता। 282।

मुनिराजको चलते-फिरते, खाते-पीते चैतन्यपिण्ड पृथक् हो जाता है और वे अतीन्द्रिय आनन्दामृतरसा वेदन करते हैं। नींदमें भी उन्हें क्षणभर झोंका आता है और क्षणभर जागते हैं; क्षणभऱ जागते हैं तब उनके अप्रमत्तध्यान हो जाता है, सहजरूपसे स्वरूपमें लीन हो जाते हैं।—इसप्रकार मुनिराज बारम्बार प्रमत्त-अप्रमत्तदशामें झूलते रहते हैं। ऐसी मुनिराजकी निद्रा है; वे सामान्य मनुष्यकी भाँति घण्टों तक निद्रामें घोरते नहीं रहते। मुनिराज अंतर्मुहूर्तसे अधिककाल तक—छठवें गुणस्थानमें रहते ही नहीं। मुनिराजको पिछली रात्रिमें क्षणभर झोंका आता है, इसके सिवा उनको अधिक निद्रा ही नहीं आती—ऐसी उनकी सहज अंतरदशा है। 283।

प्रातःकाल जिसे राजसिंहासन पर देखा हो वही सायंकाल स्मशानमें राख होता दिखायी देता है। ऐसे प्रसंग तो संसारमें अनेक बनते हैं, तथापि मोहविमूढ़ जीवोंको वैराग्य नहीं आता। भाई ! संसारको अनित्य जानकर तू आत्मोन्मुख हो। एक बार अपने आत्माकी ओर देख। बाह्य भाव अनंतकाल करने पर भी शान्ति नहीं मिली, इसलिए अब तो अंतर्मुख हो। यह संसार या संसारके संयोग स्वप्नमें भी इच्छनीय नहीं है। अन्तरका एक चिदानन्द तत्त्व ही भावना करने योग्य है। 284।

स्वभावके मार्गसे सत्य आता है और अज्ञानके मार्गसे असत्य आता है। अज्ञानी कहीं भी जाये या कहीं भी खड़ा हो, परन्तु 'मैं जानता हूँ', 'मैं समझता हूँ', 'इसकी अपेक्षा मैं

अधिक हूँ’, ‘इसकी अपेक्षा मुझे अधिक जानकारी है’ आदि भाव उसे आये बिना नहीं रहते। अज्ञानीमें साक्षीरूप रहनेकी शक्ति नहीं है।

ज्ञानीको किसी भी भावें, किसी भी प्रसंगमें साक्षीरूप रहनेकी शक्ति है; सर्व भावोंके बीच स्वयं साक्षीरूप रह सकता है। अज्ञानीको जहाँ भी हो वहाँ ‘मैं’ और ‘मेरा किया होता है’ ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। ज्ञानी हर स्थानसे हट गया है और अज्ञानी हर स्थान पर चिपका है। 285।

आत्माका प्रयोजन सुख है। प्रत्येक जीव सुख चाहता है और सुखके लिये ही झूरता है। हे जीव ! तेरे आत्मामें सुख नामकी शक्ति होनेसे आत्मा ही स्वयं सुखरूप होता है। आत्माका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र—यह तीनों सुखरूप हैं। आत्माका धर्म सुखरूप है, दुःखरूप नहीं है। हे जीव ! तुझे अपनी सुखशक्तिमेंसे ही सुख प्राप्त होगा, अन्यत्र कहींसे तुझे सुखकी प्राप्ति नहीं होगी; क्योंकि तू जहाँ है वहीं तेरा सुख है। तेरी सुखशक्ति ऐसी है कि जहाँ दुःख कभी प्रवेश ही नहीं कर सकता; इसलिए आत्मामें डूबकी लगाकर अपनी सुखशक्तिको उछाल—उछाल !! अर्थात् पर्यायमें परिणमित कर, जिससे तुझे अपने सुखका प्रगट अनुभव होगा। 286।

आज श्री महावीर भगवानके निर्वाणकल्याणकका मंगल दिन है। महावीर परमात्मा भी इन सब आत्माओं जैसे ही आत्मा थे; उन्हें सत्समागमसे आत्माका भान हुआ और क्रमशः साधनाके उन्नतिक्रममें चढ़ते-चढ़ते तीर्थंकर हुए। जिस प्रकार चौंसठपहरी पीपलको पीसते-पीसते वह चरपरी-चरपरी होती जाती है, उसीप्रकार आत्मामें जो परमानन्द शक्तिरूपसे भरा है वह (स्वसन्मुखताके अंतर्मुख) प्रयास द्वारा बाहर आता है। महावीर भगवानने, अपने आत्मामें जो पूर्ण परमानन्द भरा था उसे स्वयं अनुक्रमसे प्रयास करके प्रकट कर लिया, मन, वाणी और शरीरसे भिन्न पूर्ण ज्ञानानन्दमय जो निजतत्त्व उसे पूर्णरूपसे साध लिया।

जिनको पूर्ण परमानन्द प्रकट हो गया है ऐसे परमात्मा पुनः अवतार नहीं लेते, परन्तु जगतके जीवोंमेंसे कोई जीव उन्नतिक्रममे चढ़ते-चढ़ते जगद्गुरु 'तीर्थंकर' होता है। जगतके जीवोंमें धर्म प्राप्त करनेकी योग्यता विकसित होती है तब ऐसा उत्कृष्ट निमित्त भी तैयार होता है।

जिस भावसे तीर्थंकर नामकर्म बँधता है वह शुभभाव भी आत्माको (वीतरागताका) लाभ नहीं करता। वह शुभराग टूटेगा तब भविष्यमें वीतरागता तथा केवलज्ञान होगा। महावीर भगवानका जीव पूर्व तीसरे भवमें नग्न दिगम्बर भावलिंगी मुनि था . वहाँ मुनिरूपसे स्वरूपरमणतामें रमते थे तब, उसमेंसे बाहर आनेपर, ऐसा विकल्प उठा कि—अहा ! ऐसा चैतन्यस्वभाव ! उसे सब जीव कैसे प्राप्त करें ? सर्व जीव ऐसा स्वभाव प्राप्त करो ! वास्तवमें इसका अर्थ यह है कि—अहा ! ऐसा मेरा चैतन्यस्वभाव कब पूर्ण प्रकट हो ? मैं पूर्ण कब होऊँ ? अंतरमें ऐसी भावनाका जोर है, और बाह्यसे ऐसा विकल्प आता है कि 'अहा ! ऐसा स्वभाव सर्व जीव कैसे प्राप्त करें ?' ऐसे उत्कृष्ट शुभभावसे उनके तीर्थंकर नामकर्म बँध गया।

महावीर भगवानको केवलज्ञान हुआ किन्तु वाणी छ्यासठ दिनके बाद खिरी। केवलज्ञान तीन काल, तीन लोक, स्व-पर समस्त द्रव्य तथा उनके अनन्त भावोंको युगपद् एक समयमें हस्तामलकवत् अत्यन्त स्पष्टरूपसे जानता है। भगवानने दिव्यध्वनिमें कहा है कि—आत्मामें अखण्ड आनन्दस्वभाव भरा है; जिसमें ज्ञानादि अनन्त स्वभाव भरें हैं ऐसे चैतन्यमूर्ति निज आत्माकी श्रद्धा करे, उसमें लीनता करे, तो उसमेंसे केलवज्ञानका पूर्ण प्रकाश अवश्य प्रकट होता है।

महावीर भगवानके जो यह गीत गाये जा रहे हैं वे उन जैसे अपने स्वरूपको प्रकट करनेके लिये हैं। वैसे स्वरूपको समझे तो वर्तमानमें भी एकावतारीपना प्रकट किया जा सकता है। उस स्वरूपको जो प्रकट करेगा उसकी अवश्य मुक्ति होगी। 287।

तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा प्रकाशित दिगम्बर जैन धर्म ही सत्य है ऐसा गुरुदेवने युक्ति-न्यायसे सर्व प्रकार स्पष्टरूपसे समझाया है। मार्गकी खूब छानबीन की है। द्रव्यकी स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, आत्माका शुद्ध स्वरूप, सम्यग्दर्शन, स्वानुभूति, मोक्षमार्ग इत्यादि सब कुछ उनके परम प्रतापसे इस काल सत्यरूपसे बाहर आया है। गुरुदेवकी श्रुतकी धारा कोई और ही है। उन्होंने हमें तरनेका मार्ग बतलाया है। प्रवचनमें कितना मथ-मथकर निकालते हैं ! उनके प्रतापसे सारे भारतमें बहुत जीव मोक्षमार्गको समझनेका प्रयत्न कर रहे हैं। पंचमकालमें ऐसा सुयोग प्राप्त हुआ वह अपना परम सद्भाग्य है। जीवनमें सब उपकार गुरुदेवका ही है। गुरुदेव गुणोंसे भरपूर हैं, महिमावन्त हैं। उनके चरणकमलकी सेवा हृदयमें बसी रहे।

—बहिनश्री चम्पाबहिन

परमोपकारी पूज्य गुरुदेव

श्री कानजीस्वामीके विषय में

भक्तिगीत

1. श्री सद्गुरुदेव-स्तुति....

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो.

(अनुष्टुप)

अहो ! भक्त चिदात्माना, सीमन्धर-वीर-कुन्दना !
बाह्यान्तर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां.

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमल निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालम्बीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे.

(शार्दुविक्रीड़ित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,

जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके, परद्रव्य नातो तूटे;
—रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेन्द्रिमां—अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा.

(वसन्ततिलका)

नित्ये सुधाझरण चन्द्र ! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र ! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेध ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं.

(स्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहन्ती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलूं रत्न पामुं—मनरथ मननो पूरजो शक्तिशाळी!

2. तुज पादपंकज ज्यां थयां.....

तुज पादपंकज ज्यां थयां ते देशने पण धन्य छे;
ए गाम-पुरने धन्य छे, ए मात कुळ ज वन्य छे. 1
तारां कर्यां दर्शन अरे! ते लोक पण कृतपुण्य छे;
तुज पादथी स्पर्शाई एवी धूळीने पण धन्य छे. 2

तारी मति, तारी गति, चारित्र लोकातीत छे;
आदर्श साधक तुं थयो, वैराग्य वचनातीत छे. 3

वैराग्यमूर्ति, शान्तमुद्रा, ज्ञाननो अवतार तुं;
ओ देवना देवेन्द्र वहाला ! गुण तारा शुं कथुं ? 4

अनुभव महीं आनन्दनो सापेक्ष दृष्टि तुं धरे;
दुनिया बिचारी बावरी तुज दिल देखे क्यां अरे ? 5

तारा हृदयना तारमां रणकार प्रभुना नामना;
ए नाम 'सोहं'नामनुं, भाषा परा ज्यां काम ना. 6

अध्यात्मनी वार्ता करे, अध्यात्मनी दृष्टि धरे;
निजदेह-अणुअणुमां अहो ! अध्यात्मरस भावे भरे. 7

अध्यात्ममां तन्मय बनी अध्यात्मने फेलावतो;
काया अने वाणी-हृदय अध्यात्ममां रेलावतो. 8

ज्यां ज्यां तमारी दृष्टि त्यां त्यां आनन्दना ऊभरा वहे;
छाया छवाये शान्तिनी, तुं शान्तमूर्ते ज्यां रहे. 9

पावन-मधुर-अद्भुत अहो! तुज वदनथी अमृत झर्यां;
श्रवणो मळ्यां सद्भाग्यथी, नितेय अहो! चिद्रसभर्यां. 10

गुरुकहान तारणहारथी आत्मार्थी भवसागर तर्या,
भव भव रहो अम आत्मने सांनिध्य आवा संतना. 11

3. अध्यात्मरसना राजवी कहानगुरु

शासन तणा शिरोमणि स्तवना करुं 'गुरु कहान'नी;
तुज दिव्य मूर्ति झळहळे, अध्यात्मरसना राजवी. 1

अध्यात्म-कल्पवृक्षनां फळनो रसीलो तुं थयो;
तुं शुद्धरससाधक बन्यो, अन्तर तणी सृष्टि लह्यो. 2

तुं लोकसंज्ञा जीतीने, अलमस्त थई जगमां फर्यो;
परमात्मनुं ध्यान ज धरी, तुज आत्मने स्वच्छ ज कर्यो. 3

प्रतिबन्ध टाळी लोकनो, आनन्दनी मोजे रह्यो;
तें शुद्ध चेतनधर्मनो अनुभव हृदयमांही लह्यो. 4

अन्तर तणा आनन्दमां सुरता लगावी प्रेमथी;
शुभ द्रव्यभावे तप तप्येथी शुद्धि करी शुभ नेमथी. 5

निन्दा करी ना कोईनी, निन्दा करी सहु तें सही;
शुद्धात्मरस-भोगी भ्रमर, शुभदृष्टि तारामां रही. 6

औदार्यने तें आदरी जगमां जणाव्युं बोलथी;
आचारमां मूकी घणुं जोयुं अनुभव-तोलथी. 7

तारा हृदयनी गूढता त्यां मूढ जननी मूढता;
जे आत्मयोगी होय ते जाणे खरे तव शुद्धता. 8

पहोंच्यो अने पहोंचाडतो तुं लोकने शुद्ध भावमां;
अध्यात्मरसिया जे थया, बेठा खरे शुद्ध नावमां. 9

दुनिया थकी डरतो नथी, आशा नथी, ममता जरी;
ज्यां हुं वसुं त्यां तुं नहीं—ऐ भावना विलसे खरी. 10

स्याद्वाद पारावार छे, आनन्द अपरम्पार छे;
साचा हृदयनो सन्त छे, परवा नथी, जयकार छे. 11

आशा नथी कीर्ति तणी, अपकीर्तिने गणतो नथी;
लोको मने ए शुं कहे त्यां लक्षने देतो नथी. 12

व्यवहारना भेदो घणा त्यां क्लेशने करतो नथी;
लागी लगनवा आत्मनी, बीजुं कशुं जोतो नथी. 13

ते भावसंयम-बोटमां बेसी प्रयाण ज आदर्युं;
भवपथ-उदधि तरवा विषे तें लक्ष अन्तरमां धर्युं. 14

जे जे भर्युं तुज चित्तमां, ते बाह्यमां देखाय छे;
अध्यात्मरसिया जनोथी तुज हृदय परखाय छे. 15

एकान्तथी अध्यात्ममां जे शुष्क थईने चालतो,
चाबुक तेने मारीने व्यवहारमांथी वाळतो. 16

गम्भीर तारी वाणीमां भावार्थ बहु ऊंडा छतां,
जे हृदय तारुं जाणता ते भाव तारो खेंचता. 17

तुज वदन-कमळेथी वहे उपदेशनां अमृत अहो !
अध्यात्म-अमृत-पानथी वारी जता कोटी जनो. 18

उपकार तारा शुं कथुं? गुणगान तारां शुं करुं ?
वन्दन करुं, स्तवना करुं, तुज चरणसेवाने चहुं. 19

4. कहानगुरुने वन्दन

कहानगुरु! तुज पुनित चरण वन्दन करुं.

उन्नत गिरिशृंगोंना वसनारा तमे,
(सीमन्धर-गणधरना सत्संगी तमे,)
आव्या रंकघरे शो पुण्यप्रभाव जो;
अर्पणता पूरी कव अमने आवडे,
क्यारे लईशुं उर-करुणानो लाभ जो....कहानगुरु0

सत्यामृत वरसाव्यां आ काळे तमे,
आशय अतिशय ऊंडा ने गम्भीर जो;
नन्दनवन सम शीतळ छांय प्रसारता,
ज्ञानप्रभाकर प्रगटी ज्योत अपार जो....कहानगुरु0

अणमूला सुतनु ओ ! शासनदेवीना,
आत्मार्थीनी एक अनुपम आंख जो,
संत सलूणा! कल्पवृक्ष! चिन्तामणि!
पंचम काळे दुर्लभ तव दिदार जो....कहानगुरु0

5. गुरुदेवनो उपकार

(मन्दाक्रान्ता)

ज्यां जोउं त्यां नजर पडता राग ने द्वेष हा ! हा!
ज्यां जोउं त्यां श्रवण पडती पुण्य ने पापगाथा;
जिज्ञासुने शरणस्थळ क्यां? तत्त्वनी वात क्यां छे?
पूछे कोने पथ पथिक ज्यां आंधळा सर्व पासे ?

(शार्दूलविक्रीडित)

एवा ए कळिकाळमां जगतनां कंई पुण्य बाकी हतां,
जिज्ञासु हृदयो हतां तलसतां सद्वस्तुने भेटवा;
एवा कंईक प्रभावथी, गगनथी ओ कहान ! तुं ऊतरे,
अंधारे डूबता अखण्ड सतने तुं प्राणवन्तु करे.

जेनो जन्म थतां सहु जगतनां पाखण्ड पाछां पडे,
जेनो जन्म थतां मुमुक्षुहृदयो उल्लासथी विकसे;

जेना ज्ञानकटाक्षथी उदय ने चैतन्य जुदां पडे,
इन्द्रो ए जिनसुतना जनमने आनन्दथी ऊजवे.

(अनुष्टुप)

डूबेलूं सत्य अन्धारे, आवतुं तरी आखरे;
फरी ए वीरवाक्योमां प्राण ने चेतना वहे.

6. धर्मध्वज फरके छे मोरे मन्दिरिये

(राग : कुमकुम केसर वरसे छे मारे आंगणिये)

धर्मध्वज फरके छे मोरे मन्दिरिये;
स्वाध्यायमन्दिर स्थपायां अम आंगणिये.
मेरा मनडा मांही गुरुदेव रमे;
जगना तारणहाराने मारुं दिल नमे.

शासन तणा सम्राट अमारे आंगणे आव्या,
अद्भुत योगीराज अमारां धाम दीपाव्या;
मीठो महेरामण आंगणिये कहान महाराज,
पुण्योदयनां मीठां फळ फळिया आज. मेरा0 1

अमृतभर्यां ज्यां उर छे, नयने विजयना नूर छे,
ज्ञानामृते भरपूर छे, ब्रह्मचारी ए भडवीर छे;
युक्ति-न्यायमां शूरा छो योगीराज,
निश्चय-व्यवहारना साचा छो जाणनहार. मेरा0 2

देहे मढेला देव छो, चरिते सुवर्णविशुद्ध छो,
धर्मे धुरंधर संत छो, शौर्ये सिंहण-पीध-दूध छो;

मुक्ति वरवाने चाल्या छो योगीराज,

जिनवर-धर्मना साचा आराधनहार. मेरा0 3

सूत्रो बताव्यां शास्त्रमां, उकेलवां मुश्केल छे,

अक्षर तणो संग्रह घणो, पण ज्ञान पेले पार छे;

अन्तर्गतना भावोने ओळखनार,

सम्यक् श्रुतना साचा सेवनहार;

कुन्दकुन्द-नन्दनने वन्दन बारम्बार.

(गुरुवर-चरणोमां वन्दन वार हजार.) मेरा0 4

7. विदेहवासी कहानगुरु

विदेहवासी कहानगुरु भरते पधार्या रे,

सुवर्णपुरीमां नित्ये चैतन्यरस वरस्या रे;

उजमबाना नन्द अहो ! आंगणे पधार्या रे;

अम अन्तरियामां हर्ष ऊभराया रे.

आवो पधारो मारा सद्गुरुदेवा;

शी शी करुं तुज चरणोनी सेवा.

विधविध रत्नोना थाळ भरावुं रे,

विधविध भक्तिथी गुरुने वधावुं रे...विदेह0 1

दिव्य अचरजकारी गुरु अहो ! जाग्या;

प्रभावशाळई सन्त अजोड़ पधार्या.

वाणीनी बंसरीथी ब्रह्मांड डोले रे,

गुरु-गुणगीतो गगनमांही गाजे रे....विदेह0 2

श्रुतावतारी अहो ! गुरुजी अमारा;

अगणित जीवोनां अन्तर उजाळ्या.

सत्य धरमना आंबा रूडा रोप्या रे,

सातिशय गुणधारी गुरु गुणवन्ता रे....विदेह0 3

कामधेनु कल्पवृक्ष अहो! फळिया;

भावि तणा भगवन्त मुझ मळिया.

अनुपम धर्मधोरी गुरु भगवन्ता रे,

निशदिन होजो तुझ चरणोनी सेवा रे....विदेह0 4

8. आजे भरभूमिमां....

(राग : मारा मन्दिरियामां त्रिशलानन्द)

आजे भरतभूमिमां सोना-सूरज ऊगियो रे;

मारा अन्तरिये आनन्द अहो! ऊभराय,

शासन-उद्धारक गुरु जन्मदिवस छे आजनो रे;

गुरुवर-गुणमहिमाने गगने देवो गाय,

विधविध रत्नोथी वधावुं हुं गुरुराजने रे. आजे0 1

(साखी)

उमराळामां जनमिया ऊजमबा कूख-नन्द;

कहान तारुं नाम छे, जग-उपकारी सन्त.

मात-पिता-कुळ-जात सुधन्य अहो! गुरुराजनां रे;

जेने आंगण जन्म्या परमप्रतापी कहान,

जेने पारणियेथी लगनी निज कल्याणनी रे. आजे0 2

(साखी)

'शिवरमणी रमनार तुं, तुं ही देवनो देव';
जाग्या आत्मशक्तिना भणकारा स्वयमेव.

परमप्रतापी गुरुए अपूर्व सत्ने शोधियुं रे,
भगवत्कुन्द ऋषीश्वर चरण-उपासक सन्त,
अद्भुत धर्मधुरन्धर धोरी भरते जागिया रे. आजे0 3

(साखी)

वैरागी धीरवीर ने अन्तरमांही उदास;
त्याग ग्रह्यो निर्वेदथी, तजी तनडानी आश.

वन्दु सत्य-गवेषक गुणवन्ता गुरुराजने रे;
जेने अन्तर उलस्यां आत्म तणां निधान,
अनुपम ज्ञान तणा अवतार पधार्यां आंगणे रे. आजे0 4

(साखी)

ज्ञानभानु प्रकाशियो, झळक्यो भरत मोझार;
सागर अनुभवज्ञाननो रेलाव्यो गुरुराज.

महिमा तुज गुणनो हुं शुं कहुं मुखथी साहिबा रे;
दुःषमकाळे वरस्यो अमृतनो वरसाद,
जयजयकार जगतमां कहानगुरुनो गाजतो रे. आजे0 5

(साखी)

अध्यात्मना राजवी, तारणतरण जहाज;
शिवमारगने साधीने कीधां आतमकाज.

तारा जन्मे तो हलाव्युं आखा हिन्दने रे;

पंचमकाळे तारो अजोड छे अवतार,

सारा भरते महिमा अखण्ड तुज व्यापी रह्यो रे. आजे0 6

(साखी)

सद्दृष्टि स्वानुभूति, परिणति मंगलकार;

सत्यपंथ प्रकाशता, वाणी अमीरसधार.

गुरुवर-वदनकमळथी चैतन्यरस वरसी रह्या रे;

तेमां छाई रह्यां छे मुक्ति केरा मार्ग,

एवी दिव्य विभूति गुरुजी अहो! अम आंगणे रे. आजे0 7

(साखी)

शासननायक वीरता नन्दन रूडा कहान;

ऊछळ्या सागर श्रुतना, गुरु-आतम मोझार.

पूर्वे सीमंधरजिन-भक्त सुमंगल राजवी रे;

भरते ज्ञानी अलौकिक गुणधारी भडवीर,

शासन-संतशिरोमणि स्वर्णपुरे बिराजता रे. आजे0 8

(साखी)

सेवा पदपंकज तणी नित्य चहुं गुरुराज !

तारी शीतळ छांयमां करीए आतमकाज.

तारा जन्मे गगने देवदुंदुभि वागियां रे;

तारा गुणगणनो महिमा छे अपरंपार,

गुरुजी रत्नचिंतामणि शिवसुखना दातार छो रे;

तारां पुनित चरणथी अवनी आजे शोभती रे. आजे0 9

9. भारतखंडमां संत अहो जाग्या रे

(राग : विदेहवासी कहानगुरु भरते पधार्या रे)

भारतखंडमं संत अहो जाग्या रे,

पंचमकाळे पधार्या तारणहारे रे,

अनुभूति-युगस्रष्टा सर्वर्णे पधार्या रे,

आवो रे सौ भक्तो गुरुगुण गाओ रे,

उजमबाना नंदनने भावे वधावो रे....भारतखंडमां0 1

आवो पधारो गुरुजी अम आंगणिये;

आवो बिराजो गुरुजी अम मंदिरिये.

माणेक-मोतीना साथिया पुरावुं रे,

विधविध रत्नोथी गुरुने वधावुं रे.....भारतखंडमां0 2

यात्रा करीने मारा गुरुजी पधार्या;

स्वर्णपुरीना संत स्वर्णे बिराज्या (पधार्या).

स्वर्णपुरी नगरीमां फूलडां पथरावो रे,

(अंतरमां आनंदना दीवडा प्रगटावो रे,)

घर-घरमां रूडा दीवडा प्रगटावो रे.....भारतखंडमां0 3

भारतभूमिमां गुरुजी पधार्या;

नगर-नगरमां गुरुजी पधार्या.

तारणहारी वाणीथी हिंद आखुं डोले रे,

गुरुजीनो महिमा भारतमां गाजे रे.

(भव्य जीवोनो आतम जागे रे.)....भारतखंडमां0 4

सम्मेदशिखरनी यात्रा करीने;

शाश्वत धामनी वंदना करीने.

भारतमां धर्मध्वज लहराव्या रे,

पहले पगले तुज आनंद वरस्या रे.....भारतखंडमां0 5

सीमंधरसभाना राजपुत्र विदेहे;

सतधर्म-प्रवर्तक संत भरते.

परम-प्रतापवंता गुरुजी पधार्या रे,

(भवभवना प्रतापशाळी गुरुजी पधार्या रे,)

चैतन्यधर्मना आंबा अहो! रोप्या रे,

नगर-नगरमां फाल रूडा फाल्या रे.....भारतखंडमां0 6

नगरे नगरे जिनमंदिर स्थपायां;

गुरुजी-प्रतापे कल्याणक उजवायां,

अनुपम वाणीनां अमृत वरस्यां रे,

भव्य जीवोनां अंतर उजाळ्या रे,

(सत्य धरमना पंथ प्रकाश्या रे.) .....भारतखंडमां0 7

नभमंडळमांथी पुष्पोनी वर्षा;

आकाशे गंधर्वो गुरुगुण गाता.

अनुपम (अगणित) गुणवंता गुरुजी अमारा रे,

सातिशय श्रुतधारी, तारणहारा रे,

चैतन्य-चिंतामणि चिंतित-दातारा रे.....भारतखंडमां0 8

सूरो मधुरा गुरुवाणीना गाजे;

सुवर्णपुरे नित्य चिद्-रस वरसे.

ज्ञायकदेवनो पंथ प्रकाशे रे,

शास्त्रोना ऊंडा रहस्यो उकेले रे.....भारतखंडमां0 9

मंगलमूरति गुरुजी पधार्या;

अम आंगणिये गुरुजी बिराज्या.

महाभाग्ये मळिया भवतरनारा रे,

अहोभाग्ये मळिया आनंददाता रे,

पंचमकाळे पधार्या गुरुदेवा रे.

नित्ये होजो गुरुचरणोनी सेवा रे.....भारतखंडमां0 10

10. स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे

(राग : सीमंधरमुखथी फुलडां खरे)

उमराळा धाममां रत्नोनी वर्षा,

जन्म्या तारणहार रे,

स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे;

उजमबा-मातना नंदन आनंदकंद,

शीतळ पूनमनो चंद रे,

स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे. 1.

मोतीचंदभाईना लाडीला सुत अहो!

धन्य माता-कुळ-ग्राम रे,

स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे.

दुषम काळे अहो! कहान पधार्या,

साधकने आव्या सुकाळ रे,

स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे. 2.

विदेहमां जिन-समवसरणना
श्रोता सुभक्त युवराज रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे.
भरते श्रीकुंदकुंदमार्ग प्रभावक
अध्यात्मसंत शिरताज रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे. 3

वरस्या कृपामृत सीमंधरमुखथी,
युवराज कीधा निहाल रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे,
त्रिकाल-मंगल-द्रव्य गुरुजी,
मंगळमूर्ति महान रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे. 4

आत्मा सुमंगळ दृगज्ञान मंगळ,
गुणगण मंगळमाळ रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे;
स्वाध्याय मंगळ, ध्यान अति मंगळ,
लगनी मंगळ दिनरात रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे. 5

स्वानुभवमुद्रित वाणी सुमंगळ,
मंगळ मधुर रणकार रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे;
ब्रह्म अति मंगळ, वैराग्य मंगळ,
मंगळ मंगळ सर्वांग रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे. 6

ज्ञायक-आलंबन मंत्र भणावी,
खोल्या मंगळमय द्वार रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे;
आत्मसाक्षात्कार-ज्योति जगावी,
उजाळ्यो जिनवरमार्ग रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे. 7

परमागमसारभूत स्वानुभूतिनो
युग सर्ज्यो उजमाळ रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे;
द्रव्यस्वतंत्रता, ज्ञायकविशुद्धता
विश्वे गाजवनहार रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे. 8

सारा भारतमां अमृत वरस्यां,
फाल्या अध्यातम-फाल रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे;
श्रुतलब्धि-महासागर ऊछळ्यो,
वाणी वरसे अमीधार रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे. 9

नगर नगर भव्य जिनालयो ने
बिम्बोत्सव उजवाय रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे;
कहानचरणथी सुवर्णपुरनो
उज्ज्वळ बन्यो इतिहास रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे. 10

‘भगवान छो’ सिंहनादोंथी गाजतुं,
सुवर्णपुर तीर्थधाम रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे;
रत्नचिंतामणि गुरुवर मळिया,
सिद्धयां मनवांछित काज रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे. 11

अनन्त महिमावन्त गुरुराजने
रत्ने वधावुं भरी थाळ रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे;
पावन ए सन्तना पादारविंदमां,
होजो निरन्तर वास रे,
स्वर्णभानु भरते ऊग्यो रे. 12.

11. कहानगुरु-स्तुति

(राग : धर्मध्वज फरके छे)

कहानगुरु बिराजो मनमन्दिरिये;
आवो आवो पधारो अम आंगणिये;
कल्पवृक्ष फळ्यां अम आंगणिये.

शी शी करुं तुज पूजना, शी शी करुं तुज वन्दना;
गुरुजी पधार्या आंगणे, अम हृदय उलसित थई रह्यां.

पंचमकाळे पधार्या गुरु तारणहार;
स्वर्णे बिराज्या सत्य प्रकाशनहार.....कहानगुरु0 1.

दिव्य तारुं द्रव्य छे ने दिव्य तारुं ज्ञान छे;
दिव्य तारी वाणी छे ने अम जीवन-आधार छे.

चैतन्यदेव प्रकाश्या गुरु-अंतरमां;
अमृतधारा वरसी सारा भारतमां.....कहानगुरु0 2.

सूर्य-चन्द्रो गगनमां गुणगान तुज करता अहो!
महिमाभर्या गुरुदेव छो, शासन तणा शणगार छो.
नित्ये शुद्धात्ममदेव-आराधनहार;
ज्ञायकदेवना साचा स्थापनहार.....कहानगुरु0 3.

श्रुत तणा अवतार छो, भारत तणा भगवन्त छो;
अध्यात्ममूर्ति देव छो, ने जगत-तारणहार छो.

सूक्ष्म तत्त्वना भावो जाणनहार;
मुक्तिपंथना साचा प्रकाशनहार.....कहानगुरु0 4.

भरी रत्नना थाळो वधावुं भावथी गुरुराजने;
भगवन्त भावीना पधार्या, सेवक तारणहार छे.
कृपानाथने अन्तरनी अरदास;
गुरुचरणोंमां नित्ये होजो निवास.....कहानगुरु0 5.

12 धन्य-धन्य दिन आज है

धन्य-धन्य दिन आज है, मंगलमय सुप्रभात है,
उजमबाके राजदुलारेका मंगल अवतार ह; धन्य-धन्य0

उमरालाके द्वार पर बाज रही शहनाइयां,
‘मोती’ राजा ‘उजमबा’ घर मंगल गीत बधाइयां;

सुर-नर-नारी सब मिल मंगल जन्मोत्सवको मना रहे,
बालसुलभ लीलासे देखो सब चित्तमें हरियालियां;
पूर्णचन्द्र सम मुखडा तेरा जग-आकर्षणहार है,
सूर्यप्रभासे भी अधिका यह अनुपम तव देदार है। धन्य-धन्य0

दिव्य विभूति कहानगुरुजी सिंहकेसरी हैं जागे,
धर्मचक्रीकी अमर पताका देशोंदेशमें फहराये;
ओ पुराण पुरुषोत्तम तू सर्वांग सुमंगलकार है,
तुझ दर्शनसे भारतवासी भाग्यशाली है कहलाये;

तीर्थ समा पावन मन है, खिला हुआ नन्दनवन है,
कल्याणी चिन्मूर्ति पर यह न्योछावर सब जगजन हैं। धन्य-धन्य0

चैतन्यप्रभुका अजब-गजबका रंग गुरुमें छाया है,
और उसे ही भक्तोंके अन्तस्तलमें फैलाया है;
स्वानुभूतियुगस्रष्टा तेरी धवलकीर्ति दशदिशव्यापी,
साधकका विश्राम गुरु मंगल तीरथ कहलाया है;

वाणी अमृत-घोली है, सारी दुनिया डोली है,
वीतरागके गुप्त हृदयकी अन्तर्ग्रन्थि खोली है। धन्य-धन्य0

जनम-जनमका अन्त करे तू ऐसा महिमावन्त है,
करुणामय वात्सल्यमूर्ति गुरु अद्भुत शक्तिवन्त है;
कल्पवृक्ष सम वांछितदाता, भारत-भाग्यविधाता है,
तुझ मंगल छायामें जगमें जिनशासन जयवन्त है;

ज्ञान और वैराग्य-भक्तिका संगम मंगलकार है,
कहान-गुरुवर शाश्वत चमको, वन्दन वारंवार है। धन्य-धन्य0 4

गुणमूर्ति सीमंधरनन्दन स्वर्णपुरी-शणगार हैं,
जीवनशिल्पी नाथ अहो आत्मार्थीके आधार हैं;
दुषमकालमें मुक्तिदूत, भविभक्तोंको वरदान है,
तेरी स्वर्णिम गुणगणगाथा भवदधितारणहार है;

शाश्वत शरण तुम्हारा हो, चाहे जगत किनारा हो,
भवभवमें तुझ दास रहें, बस तू आदर्श हमारा हो,
धन्य-धन्य दिन आज है, मंगलमय सुप्रभात है,
उजमबाके राजदुलारेका मंगल अवतार है। 5।